श्वतरोपनिषद्



मधुर-प्रकाशन


महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान केन्द्र
तिथी
पु०सं० 1723
भारती पुस्तकालय



ओ३म्

श्वेताश्वतरोपनिषद्

(मूल-श्लोक, शब्दार्थ, विशेष-व्याख्या)



भाष्यकार

श्री पण्डित जगत्कुमार शास्त्री

'साधु सोमतीर्थ' आर्योपदेशक



प्रकाशक

मधुर-प्रकाशन

आर्यसमाज मन्दिर, बाजार सीताराम, देहली-६

द्वितीय संस्करण कार्तिक सं० २०४३ - नवम्बर १९८६ मूल्य १५-००

प्रकाशक :

मधुर-प्रकाशन

आर्यसमाज मन्दिर, बाजार सीताराम,

दिल्ली-११०००६

मूल्य १५-००

नवम्बर १९८६ ई०

द्वितीय संस्करण

मुद्रक :

विराट प्रिंटिंग एजेन्सी द्वारा

सम्राट प्रेस, पहाड़ी धीरज, दिल्ली-११०००६

दर्शन शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् एवं तार्किकशिरोमणि
(महाविद्यालय गुरुकुल ज्वालापुर के संस्थापक)
स्वामी दर्शनानन्द द्वारा लिखित साहित्य

दर्शनानन्द ग्रन्थ संग्रह	(प्रथम प्रसून)	६.००
दर्शनानन्द ,, ,,	(द्वितीय ,,)	८.००
दर्शनानन्द ,, ,,	(तृतीय ,,)	८.००
दर्शनानन्द ,, ,,	(चतुर्थ ,,)	८.००
दर्शनानन्द ,, ,,	(पंचम ,,)	८.००
दर्शनानन्द ,, ,,	(पष्ठ ,,)	६००
उपनिषद् प्रकाश	(छः उपनिषदों का भाष्य)	३०.००

मधुर-प्रकाशन
आर्य लमाज मन्दिर, २८०४ बाजार सीताराम,
दिल्ली-११०००६

आदरणीय पाठको !

"श्वेताश्वरोपनिषद्" की समय पर बढती मांग को देखते हुए मैं यह अनुभव कर रहा था कि आर्यजगत् में आर्य विद्वान् द्वारा लिखित भाष्य सुगमता से मिलना चाहिए । इस अभाव पूर्ति के लिये आर्य जगत् के प्रसिद्ध लेखक, विद्वान्, उपदेशक आदरणीय श्री पं० जगत्कुमार जी शास्त्री "सोमतीर्थ" से साग्रह प्रार्थना की कि आप इस ११ वीं उपनिषद् का विस्तृत भाष्य कीजिये । उन्होंने प्रार्थना स्वीकार की और ७-८ मास में भाष्य लिख दिया । मैंने उस भाष्य को "मधुर-लोक" मासिक-पत्र में क्रमशः शनैः-शनैः छपवाया । परिणाम स्वरूप सहृदय पाठकों के प्रशंसा-पत्र आने लगे । कई पाठकों ने तो यह भी लिख भेजा कि श्री साधुसोमतीर्थ जी से सभी उपनिषदों पर भाष्य कराकर प्रकाशित करें तो अत्यन्त उपकार होगा । इस प्रेरणा से विशेष बल मिला । और यह आर्यजगत् में अनुपलब्ध भाष्य आपकी सेवा में उपस्थित है । पाठक पढ़कर लाभ उठायेंगे और अपने सत्परामर्श से पथ-प्रदर्शन करेंगे ।

आदरणीय श्री साधुसोमतीर्थ जी का हृदय से आभारी एवं कृतज्ञ हूं, जिन्होंने मेरी बलवती आकांक्षा को पूर्ण किया । और साथ ही साथ उन ग्राहकों एवं पाठकों का भी कृतज्ञ हूं, जिन्होंने ये प्रेरणा प्रदान की ।

प्रभुवर जगदीश की अपार कृपा से यह श्वेताश्वरतरोपनिषद् आज आपके हाथों में देख रहा हूं ।

दिनांक
दीपावली महोत्सव
२९-०१-७०

भवदीय
-राजपालसिंह शास्त्री
प्रकाशक

ओ३म्

उपोद्घात

१—भारत के प्राचीन साहित्य में वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों और आरण्यकों के पश्चात् उपनिषदों का स्थान ही सर्वप्रधान है। ये उपनिषद् या तो वेदों के ही छोटे-छोटे अंश है, या ब्राह्मण ग्रन्थों और आरण्यकों आदि के कुछ सरस अंग। साम्प्रदायिक लोगों ने उपनिषद् शब्द की प्रसिद्धि तथा सर्वप्रियता से लाभ उठाने के लिये अपने-अपने कुछ साम्प्रदायिक उपनिषद् भी बना रखे हैं; परन्तु उनका कहीं कोई विशेष प्रचार-प्रसार नहीं हो सका। अपनी साम्प्रदायिक शब्द-योजना और राग-द्वेषपूर्ण शैली से वे सहज में ही पहिचान लिये जाते हैं, और विज्ञवरों की पकड़ में आ जाते है। न उनकी कोई विशेष प्रामाणिकता है, न ही उनका कहीं कोई विशेष पठन-पाठन वा प्रचलन। प्रमुख विद्वानों के भाष्य वा टीका-टिप्पणी भी उन पर नहीं हुई।

२—श्वेताश्वतरोपनिषद् की प्रामाणिकता के विषय में आर्यसमाज के आरम्भकाल से ही एक विभ्रम प्रचरित होता चला आ रहा है। यहां विशेष रूप से ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों को ही प्रामाणिक स्वीकारा जाता है। श्री स्वामी दर्शनानन्द जी ने उक्त दस उपनिषदों का एक मूलसंग्रह छपवाया था। श्वेताश्वतरोपनिषद् उसमें न था। महामहोपाध्याय श्री पण्डित आर्य मुनि जी ने भी दस उपनिषदों पर ही भाष्य रचे थे, श्वेताश्वतरोपनिषद् पर नहीं। इसे तो उन्होंने अछूता ही छोड़ दिया था।

३—श्री पण्डित तुलसीराम स्वामी ने श्वेताश्वतरोपनिषद् पर संस्कृत और हिन्दी में एक उत्तम भाष्य रचा था; परन्तु हमारे विज्ञवरों ने उसकी ओर उचित ध्यान ही नहीं दिया। विद्यामूर्ति श्री पण्डित राजाराम जी का भाष्य भी अच्छा था। वह भी अब उपेक्षा की भेंट चढ़ चुका है। आर्यसमाज द्वारा बहिष्कृत महर्षि दयानन्द जी के शिष्य श्री पण्डित भीमसेन शर्मा ने भी श्वेताश्वतरोपनिषद् पर हिन्दी-संस्कृत दो भाषाओं में एक भाष्य रचा था। सुप्रसिद्ध कथावाचक और "दयानन्द-प्रकाश" नामक सुन्दर ग्रन्थ के लेखक श्री स्वामी सत्यानन्द जी ने अपने सटीक एकादशोपनिषद् संग्रह में और गुरुकुल कांगड़ी के भूतपूर्व आचार्य प्रोफेसर सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार नें अपने उपनिषदों के हिन्दी-भाष्य में श्वेताश्वतरोपनिषद् को स्थान दे रखा है। तथापि श्वेताश्वतरोपनिषद् के पठन-पाठन को कोई बढ़ावा मिला नहीं।

४—महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने ईश्वर, जीव और प्रकृति के विषय में जो अपना "त्रैतवाद" के नाम से प्रसिद्ध दार्शनिक सिद्धान्त अपने ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया है, उसका उपनिषद् साहित्य में सर्वाधिक स्पष्ट और यथातथ्य उल्लेख तो श्वेताश्वतरोपनिषद् में ही मिलता है। होना तो यह चाहिये था कि अपनें लालित्य, अपनी विषय-वस्तु, अपनी संक्षिप्त और मनोरंजक शब्द-योजना और अपने स्पष्ट तत्त्व प्रबोध के आधार पर आर्यसामाजिक क्षेत्रों में यह श्वेताश्वतरोपनिषद् सबसे अधिक आदर पाता, सबसे अधिक पढ़ा, विचारा और सुना जाता; परन्तु ऐसा हो नहीं सका। यहां तो एक प्रकार से श्वेताश्वतरोपनिद् का एक प्रकार से बहिष्कार-सा ही हो गया। मेरा निवेदन है कि एक भ्रम के कारण ही ऐसा हुआ।

५—वह भ्रम कैसे फैला? किसी ने इस भ्रम का प्रभावपूर्ण निराकरण क्यों नहीं किया? यह देख और विचार कर हमें बहुत



अधिक हैरानी हो रही है। वह भ्रामक-स्थल हमें "सत्यार्थ-प्रकाश" में ही मिला। महर्षि दयानन्द जी तीसरे समुल्लास में लिखते हैं —

"पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, साख्य और वेदान्त अर्थात् जहां जक बन सके, वहां तक ऋषिकृत व्याख्या सहित, अथवा उत्तम विद्वानों की सरल व्याख्यायुत छः शास्त्रों को पढ़ें-पढ़ावें। किन्तु वेदान्त-सूत्रों के पढ़ने के पूर्व ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक इन दस उपनिषदों को पढ़ के छः शास्त्रों के भाष्य सहित सूत्रों को दो वर्ष के भीतर पढ़ावें और पढ़ लेवें।"

६—ध्यान देना चाहिये कि यह उपनिषदों की प्रामाणिकता और अप्रमाणिकता का प्रकरण नहीं है। यह तो छः दर्शनों के पठन-पाठन का प्रकरण है। और यहां वेदान्त-दर्शन के पढ़ने-पढ़ाने से पूर्व दस उपनिषदों का पढ़ना-पढ़ाना आवश्यक बतलाया गया है। क्योंकि यहां पर ग्यारहवें उपनिषद्—"श्वेताश्वतरोपनिषद्" का नामोल्लेख नहीं है। और उपनिषदों के नामोल्लेख के साथ "दस" संख्या भी सूचित की गई है। अतः उत्साही लोगों ने भ्रमवश दस उपनिषदों को ही प्रामाणिक मान लिया है।

७—प्रश्न होता हे कि "वेदान्त-दर्शन" के पठन-पाठन से पूर्व दस उपनिषदों का पठन-पाठन आवश्यक क्यों है? ग्यारहवें श्वेताश्वतरोपनिषद् का समाहार यहाँ क्यों नहीं है? उत्तर यह है कि वेदांत दर्शन के निर्माण द्वारा पूर्वोक्त दस उपनिषदों के ही कतिपय प्रसंगों की सुसंगति लगाई गई है। अर्थात् वेदान्त-दर्शन की रचना उक्त दस उपनिषदों के आधार पर ही हुई है। स्पष्टिकरण किये गये हैं और सूत्र रचे गये हैं। वेदान्त-दर्शन का कोई सूत्र श्वेताश्वतरोपनिषद् के आधार पर नहीं बना। अतः वेदान्त-दर्शन के पठन-पाठन से पूर्व श्वेताश्वलरोपनिषद् का पठन-पाठन भी आवश्यक नहीं बतलाया।

८—यदि कोई कहे कि कुछ सूत्र वेदान्त-दर्शन में ऐसे भी हैं, जो कि श्वेताश्वतरोपनिषद् के आधार पर रचे गये प्रतीत होते हैं, तो उत्तर यह है कि इस रीति से तो वैदिक-साहित्य में अन्य अनेक ग्रन्थ भी आधार माने जा सकते हैं। साक्षात् आधार तो उक्त दस उपनिषद् ही हैं। अन्य सब आधार तो संदिग्ध और गौण ही हैं। अथवा परम्परानुसार ही हैं।

९—श्वेताश्वतरोपनिषद् की गणना कृष्ण-यजुर्वेदीय साहित्य के अन्तर्गत होने से भी कुछ सिद्धान्ती विद्वान् श्वेताश्वतरोपनिषद् को प्रचार-प्रोत्साहन देते हुए संकोच करते हैं। उनका यह संकोच अकारण अथवा पूर्वाग्रहवश ही है। क्योंकि सम्पूर्ण यजुर्वेदीय-साहित्य परतः प्रमाण कोटि में आता है, अप्रमाण-कोटि में नहीं। अर्थात् वेदानुसार होने से ही कृष्ण यजुर्वेदीय-साहित्य को प्रामाणिक माना जा सकता है। स्मरण रहे कि "कठ" और "तैत्तिरीयोपनिषदें" भी कृष्ण यजुर्वेद से ही सम्बन्धित हैं, उनकी प्रामाणिकता में किसी को कोई संकोच नहीं है।

१०—महर्षि दयानन्द जी नें श्वेताश्वतरोपनिषद् को प्रामाणिक माना है कि नहीं ? उत्तर है कि माना है। विज्ञ, बहुश्रुत और स्वाध्यायशील सज्जन तो ऐसा प्रश्न कभी उठायेंगे ही नहीं। तथापि थोड़ासा विचार आगे किया जा रहा है।

११—बहुत वर्षों के विचार और मनन के आधार पर हमने यह जाना कि महर्षि दयानन्द सरस्वती जी नें सत्यार्थ प्रकाश के सातवें और आठवें समुल्लासों की रचना में श्वेताश्वतरोपनिषद् को ही अपना मुख्य आधार बनाया है। आठवें समुल्लास सृष्टि-रचना का वही रूप दर्शाया गया है, जो श्वेताश्वरोपनिषद् में है। एवं महर्षि जी नें सत्यार्थ-प्रकाश के विभिन्न प्रकरणों में जो संवाद ईश्वर बोध विषयक लिखे हैं, वे सब भी श्वेताश्वरोपनिषद् के आधार पर

ही लिखे हैं। उनके ईश्वर, जीव और प्रकृति विषयक सब मन्तव्य वही और वैसे ही हैं, जोकि श्वेताश्वतरोपनिषद् में हैं।

१२—सत्यार्थ-प्रकाश के सातवें समुल्लास के आरम्भ में ही ऋग्वेद के पहले मण्डल के सूक्त १६४ का ३९ वां मन्त्र इस प्रकार है:

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्—
यस्मिन्-देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति,
य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

[श्वेताश्वतरोपनिषद्—३।१९]

१३—श्री महर्षि जी नें वहां इस की विस्तृत व्याख्या भी की है। इस मन्त्र को उन्होंनें सत्यार्थ-प्रकाश के तीसरे समुल्लास में भी उद्धृत किया है ऋग्वेद का यह मन्त्र श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी है।

१४—महर्षि जी पूर्वपक्ष प्रस्तुत करके, उसके उत्तर में श्वेताश्वतरोपनिषद् का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं:—

प्रश्न—जब परमेश्वर के श्रोत, नेत्रादि इन्द्रियां नहीं हैं, फिर वह इन्द्रियों का काम कैसे कर सकता है ?

उत्तर—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीतो।
पश्यति-अचक्षुः स शृणोति-अकर्णः
स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता,
तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥

१५—आगे श्री महर्षि जी नें इसका अर्थ दर्शाया है:—

"यह उपनिषद् का वचन है। परमेश्वर के हाथ नहीं; परन्तु अपनी शक्ति रूप हाथ से सबका रचन ग्रहण करता, पग नहीं; परन्तु व्यापक होने से अधिक वेगवान्, चक्षु का गोलक नहीं; परन्तु सब को यथावत् देखता, श्रोत्र नहीं; परन्तु सब की बातें सुनता, अन्तःकरण नहीं; परन्तु सब जगत् को जानता है। और उसको अवधि सहित जानने वाला कोई भी नहीं। उसी को सनातन, सब से श्रेष्ठ, सब में पूर्ण होने से पुरुष कहते हैं। वह इन्द्रियों और अन्तःकरण से होने वाले काम अपने सामर्थ्य से करता है।"

१६—महर्षि जी फिर पूर्वपक्ष उठाते और उसका समाधान करते हैं:—

प्रश्न—उसको बहुत से मनुष्य निष्क्रिय और निर्गुण कहते हैं ?

उत्तर—

न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते,
न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते,
स्वाभाविकी ज्ञान बल-क्रिया च ॥

[श्वेताश्वतरोपनिषद्—६।८]

१७—महर्षिवर अर्थ लिखते हैं:—

"यह उपनिषद् का वचन है। परमात्मा से कोई तद्रूप कार्य भी उसको करण अर्थात् साधकतम दूसरा अपेक्षित नहीं। न कोई उसके तुल्य और न अधिक है। सर्वोत्तम शक्ति अर्थात् जिस से अनन्त ज्ञान, और अनन्त क्रिया है, वह स्वाभाविक अर्थात् सहज उस में सुनी जाती है। जो परमेश्वर निष्क्रिय होता, जो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय न कर सकता। इसलिये वह विभु, तथापि चेतन होने से उसमें क्रिया भी है।"

१८—सत्यार्थ-प्रकाश के सातवें समुल्लास में वेदोत्पत्ति-विषय का प्रतिपादन करते हुए महर्षि जी श्वेताश्वतरोपनिषद् का एक वचन पूर्वपक्ष में उद्धृत करके फिर उस का समाधान करते हैं :—

प्रश्न—

यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं,
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।

[श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।१८]

यह उपनिषद् का वचन है। इस वचन से ब्रह्माजी के हृदय में वेदों का उपदेश किया है। फिर अग्न्यादि ऋषियों के आत्मा में क्यों कहा ?

उत्तर—ब्रह्मा के आत्मा में अग्नि-आदि के द्वारा स्थापित कराया। देखो मनु नें क्या लिखा है:—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुसामलक्षणम् ॥

[मनु० १।२३]

जिस परमात्मा ने आदि सृष्टि में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि आदि चारों ऋषियों के द्वारा चारों वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये; और उस ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा से ऋग्, यजु, साम और अथर्ववेद का ग्रहण किया।

१९—यह श्वेताश्वतरोपनिषद् महर्षि दयानन्द जी द्वारा प्रतिपादित उपासनावाद के स्वरूप को सुसमन्वित, सशक्त और पूर्ण रूप में प्रगट करता है। अत. उपासकों और जिज्ञासुओं के लिये यह विशेष हितकर है।

२०—महर्षि दयानन्द जी ने मैत्रयी उपनिषद् के प्रमाण भी प्रस्तुत किये है। अतः कहा जा सकता है कि वे ग्यारह वा बारह उपनिषदों को प्रामाणिक मानते थे।

२१—उपनिषदों में जहां तहां कुछ प्रक्षेप भी मिलते हैं। जैसे मांस-भक्षण-विधान, अश्लीलता, सामवेद गायकों की कुत्तों से उपमा इत्यादि। ऐसी बातें वेदों और उपनिषदों के प्रतिपाद्य से विपरीत होने के कारण सहज में ही पकड़ में आ जाती हैं। उपनिषदों की गणना परतः प्रमाण कोटि में ही है। वेदों के अनुसार होने पर ही उपनिषद् वचनों को प्रमाण माना जा सकता है अन्यथा नहीं। उपनिषदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों और आरण्यकों को वेद मानना भ्रामक है।

२२—यह भी निराधार बात है कि गीता उपनिषदों का सार है। यह प्रचार पौराणिकों—विशेष रूप से गीता-प्रेस गोरखपुर वालों के श्रद्धातिरेक का ही प्रमाण है। कठ उपनिषद् के दो-तीन श्लोकों की ही थोड़ी-सी झलक गीता के दूसरे अध्याय में है। वास्तव में तो गीता एक समन्वयवादी, अथवा समझौतावादी रचना ही है। गीता के श्लोकों की भाषा सरल और लचकीली है। साम्प्रदायिक टीकाओं की रचना कर-करके गीता के प्रभाव को कुण्ठित एवं लांच्छित ही किया गया है। गीता को टीकाओं के प्रकाश में नहीं; अपितु स्वतन्त्र और मौलिक रूप में ही पढ़ना चाहिये। गीता का मर्म तो त्रैतवाद-परक, वैदिक, पांतजल-योग-पद्धति के अनुसार और उत्तम ही है।

२३—कुछ विदेशी विद्वान् और उनके अनुगामी भारतीय-बन्धु उपनिषदों को ज्ञान-काण्ड तथा वेदों को कर्म-काण्ड-परक कहते हैं। यह विचार भ्रान्त और दूषित मनोवृत्ति का परिचायक है। वेदों में सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान का विस्तृत उल्लेख है। ज्ञान-काण्ड भी वेदों के लिये ही चरितार्थ होता है।

२४—आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, ज्ञान, वैराग्य, जगदोत्पत्ति, बन्ध, मोक्ष और मानव-जीवन-पद्धति के लिये सर्वाधिक हितकर उपदेश तो वेदों से ही प्राप्त होते हैं। वे देशकालातीत भी हैं,

सार्वभौम थी। इतर वैदिक ग्रन्थों में तो वेदों के कतिपय पुष्पित उपदेश अथवा अर्थवाद ही प्राप्त होते हैं।

२५—प्राचीन-साहित्य में जो "इतिहास, पुराण" शब्दों का उल्लेख है, उससे ब्राह्मण-ग्रन्थों, उपनिषदों और आरण्यकों का ही ग्रहण होता है। वर्त्तमान पुराण-साहित्य तो प्राचीन-काल में था ही नहीं। वर्त्तमान पौराणिक साहित्य तो नवीन, अवैदिक, अहितकर और अत्यन्त आवांच्छनीय, अतः त्याज्य ही है।

२६—पाश्चात्य तत्त्वज्ञान के एक सुप्रसिद्ध आचार्य जर्मन देशोत्पन्न "शापन हार" ने लिखा था:—

"उपनिषदों के प्रत्येक वाक्य से अत्यन्त गम्भीर रहस्य और बहुत ऊँचे विचार प्रगट होते हैं। उपनिषदों में एक अत्यन्त पवित्र और पूर्ण सत्ता ओत-प्रोत है। अखिल भू-मण्डल में उपनिषदों से भिन्न और कोई भी ग्रन्थ अधिक उपयोगी और ब्रह्म-विद्या के गुप्त भण्डारों को दर्शाने तथा मनोमय-जगत् की सर्वोच्च-भूमिकाओं में पहुंचाने वाला नहीं है। किसी भी अन्य ग्रन्थ का स्वाध्याय उपनिषदों से बढ़कर उपयोगी और शान्तिदायक नहीं है। अपने जीवन में जो शान्ति मुझे मिली है, वह उपनिषदों से ही मिली है। मेरी मृत्यु के समय भी उपनिषद् ही मेरे लिये शान्तिप्रद होंगे।"

२७—भारत के महान मनीषी श्री राजगोपालाचार्य लिखते हैं:—

"उपनिषद् हमारे ऐसे धर्म-ग्रन्थ हैं, जिनमें आध्यात्मिक जिज्ञासा के विषय में संसार के सब धर्म ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक भावना परिलक्षित होती है। जिन ऋषियों के विचार और उपदेश उन में निहित हैं, वे अधिकांश वैज्ञानिकों की भान्ति ही रचनात्मक शंकाओं से प्रेरित दिखलाई पड़ते हैं। उनके प्रश्नों और उत्तरों से मालूम होता है कि वे एक ऐसे युग में हुए, जब परम्परा और पुराने आचार-विचारों के दृढ़ अनुसरण के साथ-साथ, मनुष्य परमसत्य

के जिज्ञासु रहते थे, और वातावरण अत्यन्त साहसपूर्ण स्वतन्त्र विचारों से परिपूर्ण था।"

२८—वे आगे लिखते हैं:-

"उत्कट सत्य-तृषा से प्रेरित होकर, जिस विशाल कल्पना और अनुसन्धान की अदम्यप्राय भावना से उपनिषदों के गुरु और शिष्यों नें जगत् के "प्रगट रहस्य" का अवगाहन किया है, उसके कारण संसार के धर्म ग्रन्थों में सबसे प्राचीन उपनिषद् अब भी सब से आधुनिक और सबसे अधिक सन्तोषजनक बनें हुए हैं।"

२९—उपनिषदों के प्रतिपाद्य को समझनें में आधुनिक पाठक के सामनें जो कठिनाइयां आती हैं, उनसे बचनें का उपाय श्री राजा जी इस प्रकार दर्शाते हैं—

"उपनिषदों का सार निकालनें और उनका मूल्यांकन करनें के लिये हमें ऐसी प्रबल कल्पना शक्ति और बौद्धिक बलनशीलता की आवश्यकता है, जो आधुनिक जीवन के विश्वासों, महत्त्वाकांक्षाओं तथा मानसिक गठन को विलग करनें वाले भारी व्यवधान का अतिक्रमण कर सके।"

३०—इस का अभिप्राय यही है कि हमें कल्पना से काम लेकर सुदीर्घ अतीत में लौटना होगा, उन सरल, शान्त श्रद्धामयी और सद्भावना परिपूर्ण परिस्थितियों का निर्माण करना होगा, जिनमें जिज्ञासा को प्रगति का प्रतीक और सत्य को जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य माना जाता था।

३१—"श्वेताश्वतरोपनिषद्" का परिगणन कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय-शाखा के अन्तर्गत होता है। कहते हैं कि महर्षि वैशम्पायन की शिष्य-परम्परा में श्वेताश्वतर नाम के एक महर्षि थे। उन्होंने ही "श्वेताश्वतर" नामक वेद-शाखा की प्रवर्त्तना की थी। अब उस शाखा का एक छोटा-सा अंश यह "श्वेताश्वतरोपनिषद्" ही संसार में

शेष बचा है। शेष सम्पूर्ण शाखा का तो विलोप ही हो चुका है। न जाने उसमें क्या-क्या था? न जाने उसका पुनरपि कभी प्रकाश होगा कि नहीं?

३२—अधिक सफेद घोड़ा और अधिक सफेद घोड़े वाला ये दो अर्थ इस "श्वेताश्वतर" समस्त पद के सम्भव हैं। 'श्वेत' पद का प्रयोग सात्विक, निर्मल, निष्पाप, उज्ज्वल और सफेद भी होता है। "अश्व" पद विद्युत, प्रकाश, राष्ट्र, मन और घोड़ा आदि कई अर्थों में प्रयुक्त होता है। "आशु गच्छति इति अश्वः।" इस नियम के अनुसार सभी शीघ्रगामी पात्र और वाहन आदि अश्व कहे जा सकते हैं।

३३—लाक्षणिक रूप में उत्तम मन वाला, पुण्य-शील, उत्तम राष्ट्र वाला, विद्युत-विद्या-पारंगत, प्रकाश-विद्या-पारंगत, प्रकाशोपासक, उत्तम-यान-निर्माता, आदि-आदि और भी कई अर्थ यहाँ ग्रहण किये जा सकते हैं। यह बतलाना अब सम्भव नहीं है कि प्राचीनकाल में "श्वेताश्वतर" पद का कौन सा अर्थ प्रधान माना जाता था? और वेद-शाखा तथा इस उपनिषद् को किस विशेष अर्थ में यह "श्वेताश्वतर" नाम प्रदान किया गया था? हो सकता है कि किसी व्यक्ति विशेष के नाम के आधार पर ही यह नाम प्रचलन किया गया हो। अन्य अर्थों में से प्रसंग की दृष्टि से "पुण्य-शील" और "उत्तम मन वाला" अर्थ ही सुसंगत हैं।

३४—महाभारत में पाण्डु-पुत्र अर्जुन का एक उप-नाम "श्वेताश्व" भी है। यह इसलिये कि उसके रथ के घोड़े सफेद थे। स्वयं "अर्जुन" पद का अर्थ भी श्वेत ही है। इसी प्रकार वै दिक-इन्द्र का एक उपनाम "हर्यश्व"=हरि-अश्व" भी है। "इन्द्र" नाम सूर्य के लिये प्रसिद्ध ही है। सूर्य के अर्थ में "हर्यश्व" का अर्थ होगा हरी या नीली किरणों वाला।

३५—ऋग्वेद के ऋषि का नाम "श्याश्व" है, जो कि ऋग्वेद के

पांचवें मण्डल के सूक्त ५२ से ६१ तक का द्रष्टा है। यहां पर "श्यावश्व" का अर्थ होगा "काले घोड़े वाला" कोई ऋषि अपुण्य-शील या काले मन वाला तो होता ही नहीं। काले राष्ट्र वाला कथन भी अशिष्ट है।

३६—महर्षि "श्वेताश्वतर" के सब अनुयायी भी "श्वेताश्वतर" नाम से ही प्रसिद्ध हुए थे। इस प्रकार प्राचीनकाल में "श्वेताश्वतर" नाम का एक सम्प्रदाय या वर्ग था। यह भी स्थापित हो गया। अतः इस उपनिषद् को "श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषद्" भी कहते हैं। मन्त्रोपनिषद् इस लिये कि इस उपनिषद् में वेदों के बहुत से मन्त्र भी ज्यों के त्यों या थोड़े परिवर्तित पाठ के साथ शामिल किये गये हैं। कई वेद-मन्त्रों के वाक्यांश भी इस में हैं। वेद-मन्त्रों का अर्थवाद तो इसमें प्रधान है ही।

३७—यह "श्वेताश्वतरोपनिषद्" प्राचीन वैदिक साहित्य का एक उज्ज्वल अंश तो है ही, अध्यात्मवाद और योग-विद्या की दृष्टि से भी यह अधिक महत्वपूर्ण है। इसका प्रतिपादन सरस भी है। स्वाभाविक भी। इस उपनिषद् में उपनिबद्ध सभी वेद-मन्त्रों और अन्य छन्दों के लिये हमने एक सामान्य "श्लोक" पद का प्रयोग ही उचित समझा है। जिन के पाठ थोड़े-बहुत बदल गये, उन वेद-मन्त्रों का अपौरुषेयत्व तो खण्डित हो ही गया और वे परतः प्रमाण ग्रन्थों की श्रेणी में भी आ ही गये। सामान्यतया तो वेद-वचनों को मन्त्र और मानवी वाक् को ही "श्लोक" कहने का रिवाज है।

३८—श्री शंकराचार्य जी का भाष्य इस उपनिषद् पर सर्वसुलभ है। कुछ विचारकों का कथन है कि यह भाष्य किसी अन्य आचार्य ने रचा और शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध कर दिया है। यह भी सम्भव है कि यह भाष्य किसी गद्दीधारी महन्त शंकराचार्य द्वारा रचा गया हो। इस भाष्य में आन्तरिक विरोध भी है, उसकी प्रतिपादन शैली भी आद्य शंकराचार्य जी के ग्रंथों से प्रतिकूल है और

उसका मन्तव्य-निवर्तन भी शंकराचार्य जी के गीता, वेदांत और अन्य उपनिषद् भाष्यों से विपरीत है।

३९—यह बड़े परिताप का विषय है कि इस समय श्री शंकराचार्य के नाम से "श्वेताश्वरोपनिषद्" का जो भाष्य प्रसिद्ध है उसमें उपनिषद् के मूल, सरल और सुस्पष्ट श्लोकों को भी नवीन-वेदान्त के सांचे में ढालने के लिये प्रसंग विरुद्ध अर्थवादों के सहारे सहारे बदलने और तोड़ने-मरोड़ने का अनुचित प्रयास किया गया है। ऐसे प्रयत्नों से उपनिषद्कार का मूल विचार या तो छिप गया है, या कुण्ठित हो गया है।

४०—न जाने वे कौन से शंकराचार्य जी थे, जिन्होंने यह अवैदिक गड़बड़झाला कर डाला? जो सर्व प्रथम परम प्रतापी, मेधावी, बाल-ब्रह्मचारी, वेदोद्धारक और नास्तिक मत-ध्वान्त-निवारक शंकराचार्य जी थे, उनके माथे पर यह कलंक सहसा ही लगना हमें उचित प्रतीत नहीं होता कि उन्होंने उपनिषद् का अन्यथा भाष्य रच डाला, अपने नये मत के प्रचलन के लिये।

४१—विद्यामूर्ति श्री पं० राजाराम जी शास्त्री की "श्वेताश्वतरोपनिषद्" की टीका कभी लाहौर से छपी थी और सर्वप्रिय हुई थी।

४२—महर्षि दयानन्द सरस्वती जी के शिष्य श्री पं० भीमसेन शर्मा ने "श्वेताश्वतरोपनिषद्" की एक संक्षिप्त सी टीका लिखी थी। जब श्री शर्मा जी ने आर्यसमाज का परित्याग किया, तब उन की वह टीका भी शिष्ट-समुदाय से परित्यक्ता हो गई थी।

४३—मेरठ निवासी सामवेद भाष्यकार श्री पं० तुलसीराम जी स्वामी ने संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' का उत्तम भाष्य रचा था। घटिया कागज, और दोषपूर्ण मुद्रण होने पर भी यह एक अच्छा प्रयास था। वह भाष्य प्रथमवार प्रकाशित हुआ था।

४४—लाहौर वाले सुप्रसिद्ध कथावाचक श्री स्वामी सत्यानन्द जी महाराज द्वारा विरचित "श्वेताश्वतरोपनिषद्" की संक्षिप्त टीका उनके एकादशोपनिषद्-संग्रह के अन्त में है।

४५—आचार्य सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार के एकादशोपनिषद्-संग्रह के अन्त में उनकी "श्वेताश्वतरोपनिषद्" की टीका भी शामिल है।

४६—गीता-प्रेस गोरखपुर से नौ उपनिषदों का एक संग्रह छपा है। उसके अन्त में भी "श्वेताश्वतरोपनिषद्" की हिन्दी टीका मौजूद है। इसे पौराणिक अर्थों की प्रदर्शिका समझा जाये। इसके सम्पादक श्री हरिकृष्ण जी गोयनका हैं।

४७—संस्कृत और आंगल-भाषा में भी इसके नये-पुराने कई टीका-टिप्पण निकल चुके हैं।

४८—"श्वेताश्वतरोपनिषद्" को मैंने पहले भी कई बार पढ़ा था। इसके अधिक विचार का अवसर सन् १९६९ के आरम्भ में तब मिला जब सुप्रसिद्ध पुस्तक प्रकाशक संस्थान "मधुर-प्रकाशन" के स्वामी श्री पण्डित राजपालसिंह शास्त्री ने मुझ से "श्वेताश्वतरोपनिषद्" का अनुवाद प्रस्तुत करने का आग्रह किया। मैंने भी तब अन्य कार्यक्रमों को स्थगित करके पहले इस कार्य को सम्पन्न करना ही ठीक समझा।

४९—इस अनुवाद-कार्य में प्रवृत्त होने के पश्चात् ही मैंने भली प्रकार से यह जाना कि श्री महर्षि दयानन्द जी सरस्वती ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "सत्यार्थ-प्रकाश" के सातवें, आठवें, नौवें, ग्यारहवें और बारहवें समुल्लासों में जो आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, बन्ध, मोक्ष, उपासना, सृष्टि-विज्ञान आदि विषयक संवाद, विवेचन और मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं, उनका मुख्य आधार यह "श्वेताश्वतरो-

पनिषद्" ही है। इस विषय पर कभी अधिक विस्तार के साथ लिखने का मेरा विचार है।

५०—प्रस्तुत अनुवाद के विषय में पाठक क्या विचार स्थिर करेंगे? इस विषय में कोई भविष्यवाणी करना मेरे लिये उचित नहीं है। हां, इसे उपयोगी और यथार्थ बनाने का मैंने पूरा-पूरा प्रयास किया है। लेखन-कार्य आरम्भ करने से पूर्व कई मास तक प्रतिदिन एक बार के हिसाब से मूल-उपनिषद् का पाठ भी मैं करता रहा हूं। अपने अनुवाद के विषय में कुछ विद्वानों से विचार-विमर्श का लाभ भी मैंने उठाया है।

विषय-वस्तु

५१—श्वेताश्वतरोपनिषद् के पहले अध्याय में कारण ब्रह्म की जिज्ञासा और उसका सम्यक् समाधान है। त्रैतवाद अर्थात् ईश्वर, जीवात्मा-समुदाय और सृष्टि की उपादान स्वरूप प्रकृति का प्रतिपादन सुस्पष्ट है। इसमें ब्रह्म-चक्र के रूप में ब्रह्माण्ड और नदी के रूप में पिण्ड अर्थात् मानव-देह का जो सांकेतिक निरूपण है, वह सांख्य-सिद्धान्त के ही अनुसार है। अध्याय के अन्त में ईश्वर की निराकारता, सर्व-व्यापकता और उपासना की आवश्यकता दर्शा कर ओङ्कार-जप-विधि का विधान किया गया है।

५२—दूसरे-अध्याय में योग-साधन का सिद्धान्त और साधनशीलता के आरम्भिक परिणामों को दर्शाया गया है। यह प्रकरण पातंजल-योग-मार्ग का ही प्रतिपादक है।

५३—तीसरे अध्याय में ईश्वर की सत्ता और महत्ता ईश्वर के विराट् रूप, जीवात्मा के बन्ध और ईश्वर दर्शन आदि का रहस्यमय उल्लेख है।

५४—चौथे अध्याय में उत्तम बुद्धि की कामना करते हुए प्रत्यक्षदर्शी साधक ईश्वर, जीव और प्रकृति का स्वरूप दर्शाता है, ईश्वर और जीवात्माओं के लिंग भेद का निषेध करता है, बन्ध का कारण

बता कर मोक्ष का लक्षण बताता है; ईश्वर और जीवात्मा की पृथकता दर्शा कर मूर्ति पूजा का निषेध करता है और संरक्षण के लिये ईश्वर से प्रार्थना करता है।

५५—पांचवें अध्याय का विशेष दार्शनिक महत्व है। विषय चौथे अध्याय जैसा ही होने पर भी त्रैतवाद की सम्पूर्ण प्रक्रिया और उपासना-पद्धति का दिग्दर्शक है।

५६—छटा अध्याय अन्तिम और उपसंहार स्वरूप है। इस अध्याय के ईश्वर-स्तुति विषय कुछ श्लोकों को ईश्वर-भक्त-समुदायों में बड़े प्रेम से गाया जाता है। ईश्वर-दर्शन का ही सम्पूर्ण दुःखवाद का निवारक एकमात्र उपाय बता कर उपदेश को समाप्त किया गया है।

५७—लालित्य, सरलता, स्पष्टता और रहस्यभेदी रोचकता की दृष्टि से भी यह छोटा-सा यजुर्वेदीय उपनिषद् बड़ा महत्वपूर्ण है। अपनी भाव-व्यंजना में यह सम्पूर्ण वेदवाद को अनायास ही समेट लेता है। दैनिक-पाठ के लिये तो यह उत्तम है ही, अवकाश के क्षणों में विशेष मनन और चिन्तन के लिये भी यह अधिक उपयोगी है। अपने विचार-बीजों के द्वारा वैदिक-जीवन-पद्धति, वैदिक-उपासना-विधि और मानव-जीवन की दार्शनिक पृष्ठभूमि को उजागर करने में यह पूर्ण समर्थ है। इसका मुख्य-विचार-बिन्दु सार्वभौम है, चिर-नवीन है, किसी प्रकार का साम्प्रदायिक राग, द्वेष या दुराग्रह इसमें नहीं है।

श्रावणी —जयकुमार शास्त्री

१७ अगस्त १९७० "साधुसोमतीर्थ"

श्वेताश्वतरोपनिषद् का स्वाध्याय

लेखक—श्री पंडित जनमेजय विद्यालंकार, एम० ए०, शास्त्री

श्वेताश्वतर उपनिषद् में महर्षि श्वेताश्वतर महोदय ने जो कुछ भी प्रतिपादन किया है उसे संक्षेप से हम तीन शीर्षकों में विभक्त कर सकते हैं। सो इस प्रकार है—

(१) संसार का बनाने वाला परमेश्वर है, परमेश्वर संसार का निमित्त कारण है। प्रकृति उपादान कारण है। ईश्वर, जीव, प्रकृति, यह तीन पदार्थ नित्य हैं, अर्थात् न इनका प्रारम्भ है, न अन्त।

(२) योग।

(३) ईश्वर की महिमा।

अब हम इस सम्पूर्ण उपनिषद् पर विस्तार से विचार करेंगे। एक समय महर्षि श्वेताश्वतर तथा अन्य भी अनेक ऋषि-मुनि एकत्र होकर विचार करने लगे कि,

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाताः जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्।"

"क्या इस स्थावर जंगम सम्पूर्ण विश्व का कारण ईश्वर है या अन्य कोई या कोई भी नहीं? हम सब कहाँ से उत्पन्न हो गए हैं? सब स्थावर जंगम किस में स्थित है? किसका यह प्रबन्ध है कि जो हम सब लोग सुख और दुःख प्राप्त करते हैं? यह पाँच प्रश्न विचारणीय हैं।"

वाह वाह यह कैसे विचित्र प्रश्न हैं। कैसी अद्भुत बातों को जानने की इच्छा उन महर्षियों के मनों में उत्पन्न हुई। यह तो सोचने-विचारने का क्षेत्र भी निराला है। आजकल तो सारा संसार

बहिर्मुख हो रहा है। भला आजकल किसके मन में इस प्रकार के शुष्क, नीरस, गूढ प्रश्न पैदा हो सकते हैं ? कौन अन्तर्मुख होकर इन प्रश्नों पर अपना सिर खपाएगा। कौन इस प्रकार के प्रश्नों पर अपने लिए सिर दर्द मोल लेगा, कौन ऐसे विषयों पर अपना समय और अपनी शक्ति लगाना पसन्द करेगा। जब वर्तमान समय में किसी के मन में ऐसे प्रश्न ही पैदा नहीं होते तो उत्तरों का तो कहना ही क्या। जनता तो इन प्रश्नों पर उदासीन है ही, इनके उत्तरों पर भी उदासीन है। तो भी वह महर्षि लोग एकत्र होकर बड़ी गम्भीरता से इन प्रश्नों पर गौर करने लगे।

"कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिंत्यम् संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः।"

"क्या काल अर्थात् समय ही सब चराचर जगत् का कारण है, क्योंकि कुछ पदार्थ सर्दियों में पैदा होते हैं, कुछ गर्मियों में, कुछ बरसात में ? मनुष्य जन्म भी नौ महीने माता के गर्भ में रहने के बाद ही होता है। अच्छा, यदि काल को कारण न माना जाए तो क्या स्वभाव को अर्थात् आदत को कारण माना जाए। स्वभाव से जल में शीतलता होती है, स्वभाव से ही अग्नि में गर्मी होती है। क्या नियति अर्थात् भाग्य को कारण माना जा सकता है, सचमुच प्रतीत तो यही होता है कि भाग्य ही सब कुछ करता है, भाग्य को कोई मेट नहीं सकता अथवा क्या हम यदृच्छा को सब स्थावर जंगम विश्व का रचयिता मान सकते हैं। यदृच्छा का अर्थ है 'यों ही।' अटकलपच्चू। यों ही सब संसार स्वयमेव पैदा होता रहता है, कोई उत्पादक नहीं है, कोई नियामक नहीं है। अथवा क्या पञ्चमहाभूतों को कारण माना जा सकता है ? क्या माता-पिता को कारण माना जा सकता है ? क्या जीवात्मा को कारण माना जा सकता है ? क्या इन सातों का समुदाय ही विश्व का कारण है ? इस प्रकार आठ बातों पर विचार चल रहा है कि संसार का कारण कौन-सा

है। दर्शन शास्त्र के शब्दों में बनाने वाले को निमित्त कारण कहते हैं, जैसे कि घड़े का निमित्त कारण कुम्हार है। इसी प्रकार इस सम्पूर्ण जगत् का निमित्त कारण कौन है? दूसरी पंक्ति में इस प्रश्न का उत्तर भी दे दिया है कि, "देखो लोगो. बनाने वाला हमेशा चेतन होता है, ऊपर जिन आठ कारणों का जिक्र किया गया है उनमें से सात तो अचेतन हैं अर्थात् जड़। अतः वह तो रचयिता या निमित्त कारण या बनाने वाला हो ही नहीं सकते। इसलियें काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा-पञ्चमहाभूत, माता-पिता, सब सम्मिलित, यह सात तो विश्व के रचयिता हो ही नहीं सकते। उनमें आठवां नाम आत्मा का लिया गया है। आत्मा है तो चेतन परन्तु फिर भी उसे निमित्त कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि सृष्टि में उसे सुख-दुःख दोनों ही भोगने पड़ते हैं यदि आत्मा ही सृष्टि का रचयिता होता तो वह स्वयं न चाहता हुआ भी क्यों विवशतापूर्वक सुख दुःखों का उपभोग करता। तो फिर कौन है विश्व का रचयिता?

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्। यः

कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥

श्वेताश्वतर प्रभृति उन ऋषियों ने ध्यान लगाकर विचार किया। तब उन्हें ज्ञात हुआ कि उस देवाधिदेव की आत्मशक्ति इतनी बड़ी है कि अपने गुणों की महत्ता के कारण ही वह गूढ़ हो गई है, अदृश्य हो गई है। वही एक देवाधिदेव उन पूर्वोक्त आठों उल्लिखित कारणों का एक मात्र अधिष्टाता है। उसे ही ईश्वर आदि अनेक नामों से पुकारा जा सकता है। परन्तु इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि संसार में जो अन्य अनेक शक्तियां, जड़ या चेतन, अपना कार्य कर रही हैं वे सब उसी एक ईश्वर की प्रेरणा से, उसी एक ईश्वर की आज्ञा से अपना कार्य कर रही हैं। सबका अधिष्ठाता, सबका प्रेरक, सबका स्वामी, संसार का रचयिता, संसार का निमित्त कारण, एक-मात्र वह एक ईश्वर ही है।

यहीं प्रसंग वश एक अन्य बात पर भी हम प्रथमे पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। जब इन ऋषियों के सामने यह सब गूढ प्रश्न और रहस्यमयी समस्यायें उपस्थित हुई, तब उन्होंने एक दम विवाद शुरू नहीं कर दिया। सभी, एक साथ लेक्चर नहीं झाड़ने लगे। वादविवाद बकबक. कुछ न कुछ बोलना ही चाहिये। अतः कुछ न कुछ बोलना शुरू कर ही दो, यह सब कुछ नहीं प्रारम्भ कर हो दो. आज कल की हमारी तमाम सभी समितियों में जो होता है अर्थात् विना सोचे-समझे, विना विचारे, बिना तैयारी के यों ही, बारी बारी से, सब कुछ न कुछ बोलना शुरू कर देते हैं, तो वहां कुछ भी हुआ। "ते ध्यानयोगानुगता:" शब्दों पर हम सबको ध्यान देना चाहिए और कुछ सीखना चाहिए। प्राचीन ऋषियों की यह अति प्राचीन प्रणाली है कि जब कोई कठिन विषय, गूढ़ प्रश्न, कोई समस्या उनके सामने उपस्थित हो तो वह ध्यान में लीन हो जाते हैं, स्वयं एकान्त चिन्तन करते हैं, स्वयं तन्मय होकर एकान्त मनन करते हैं, और इस प्रकार उस कठिन समस्या का हल ढूंढ निकालते हैं। यहां तो श्वेताश्वतरोपनिषद् का प्रकरण चल रहा है, संस्कृत साहित्य में अन्य भी बहुत से स्थलों पर हमारी दृष्टि गई है और हमने देखा है कि प्राचीन ऋषि, मुनि, नेता, महापुरुष जब भी किसी गूढ़ कठिन समस्या का हल ढूंढ़ने के लिए एकत्र हुए हैं तब उन्होंने इकट्ठे होते ही बक-बक नहीं शुरू कर दी है, उन्होंने एकान्त चिन्तन किया है, अलग-अलग पृथक् पृथक वह ध्यानमग्न पहिले हुए हैं, सोच-विचार स्वयं खूब किया है, और आश्चर्य है कि ध्यान के पश्चात् सबने सर्वसम्मति से हो, एक ही, हल ढूंढ़ निकाला है, ठीक हल ढूंढ़ निकाला है।

एक उदाहरण। संसार में जब रोग प्रथम बार उत्पन्न हुए, जब जनता में प्रथम बार कई लोग बीमार हुए, तो उनके नेता, ऋषि, मुनि लोग हिमालय की दक्षिणी सीमा पर एकत्र हुए और रोगों की

नई समस्या का हल ढूंढने लगे। अङ्गिरा, जमदग्नि, पुनर्वसु, आत्रेय, भरद्वाज आदि सब एकत्रित नेताओं के सामने रोगों की समस्या कही गई और कुछ उपाय ढूंढ़ने के लिये आग्रह किया गया। "कः स्यात्तेषां शमोपायः इत्युक्त्वा ध्यानमास्थिताः" अर्थात् "अब इन रोगों को शान्त करने के लिए क्या उपाय किए जा सकते हैं, यह कहकर सब नेता, महर्षिगण ध्यानमग्न हो गए, पृथक्-पृथक् स्वयं गम्भीर चिन्तन में प्रवृत्त हो गए।" सचमुच समस्याओं के असली हल इसी प्रकार ढूंढ़े जा सकते हैं, न कि यों ही बक-बक करने से अथवा सभा के सामने अपनी विद्वत्ता प्रकट करने की इच्छा से कुछ न कुछ सम्बद्ध-असम्बद्ध बोलते रहने से।

दूसरा उदाहरण। एक बार चिकित्सा सम्बन्धी किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर अति प्राचीन काल में नेताओं, ऋषिमुनियों में कुछ मतभेद पैदा हो गया। सब एकत्र हुए। विचार प्रारम्भ हुआ। सबने अपनी-अपनी सम्मति अपने मन में पहले से ही बना रखी थी। सो बारी बारी से सब बोलने लगे, धुंवाधार लैक्चर बाजी शुरू हो गई, सब अपनी-अपनी पूर्वनिर्धारित सम्मति का प्रबल युक्तियों से समर्थन करने लगे। उनकी सभा में महर्षि पुनर्वसु आत्रेय भी मौजूद थे। इन धुंवाधार लेक्चरों को तथा अपनी-अपनी पूर्वनिर्धारित सम्मति को सिद्ध करने के प्रयत्नों को, उन्होंने न केवल व्यर्थ ही समझा प्रत्युत् हानिकारक भी समझा। वह बोले। "मुक्त्वैवं वाद संघट्टमध्यात्ममनुचिन्त्यताम्" अर्थात् "हे ऋषि महर्षि लोगो, आप लोग कृपया इस बक-बक को तो बन्द कीजिए, यों ही लम्बे-लम्बे इन लेक्चरों को तो कृपया समाप्त कीजिए, अपनी-अपनी पूर्वनिर्धारित सम्मतियों को तो भूल जाइए, और कृपया अध्यात्मचिन्तन कीजिए, एकान्त विचार कीजिए, प्रस्तुत विषय पर गम्भीर चिन्तन कीजिए मौन होकर पृथक्-पृथक् स्वयं चिन्तन कीजिए। जब तक आप ऐसा नहीं करेंगे तब तक कोई भी ठीक निर्णय आप नहीं कर सकेंगे, किसी भी समस्या का ठीक हल आप लोग तब तक नहीं कर सकेंगे।"

यह दोनों उदाहरण हमनें चरक संहिता में से उद्धृत किए हैं। क्या हमारे आजकल के शानदार Commission, आजकल के नेता, आजकल के सभा-समिति के वक्ता, आजकल inquiry Committees, आजकल के Research Scholars, जिनके हाथ में देश की बागडोर है वह उच्च पदाधिकारी लोग, इन उदाहरणों से कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगे, अपने लिए कुछ मार्ग प्रदर्शन हासिल करेंगे।

अच्छा, तो अब हम पुनरपि अपने मुख्य विषय श्वेताश्वतरोपनिषद् पर आते हैं। सो इस प्रकार उन श्वेताश्वतर प्रभृति महर्षियों नें एक निर्णय तो यह किया कि संसार का निमित्त कारण एकमात्र एक ईश्वर है। दूसरा निर्णय उन लोगों ने यह किया कि प्रकृति उपादान कारण है अर्थात् ईश्वर ने यह सम्पूर्ण संसार प्रकृति से बनाया है। जिससे कोई वस्तु बनती है उसे उपादान कारण कहते हैं, जैसे घड़े का उपादान कारण मिट्टी है जिस प्रकार घड़े का उपादान कारण मिट्टी है उसी प्रकार संसार का उपादान कारण प्रकृति है। इस विषय में उन श्वेताश्वतर आदि महर्षियों के निम्नलिखित वाक्य विशेष तौर पर द्रष्टव्य हैं। अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजा सृजमानां: सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥१॥ द्वा सुपर्णा सयुजः सखायः समान वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥२॥

"लाल सफेद और काले रंग की एक अजा हैं जो अपने ही रूप रंग वाली अनेक प्रजाओं को उत्पन्न किया करती है। एक अज है जो उस अजा के साथ प्रीति करता है, उसके साथ सो जाता है। एक दूसरा और भी अज है जो उस अजा को छोड़ देता है। अजा

का अर्थ है, अ+जा, अर्थात् पैदा कभी न होने वाली। अज का अर्थ अ+ज, अर्थात् पैदा कभी न होनें वाला। जो कभी पैदा नहीं होता वह कभी नष्ट भी नहीं होता, उसे अनादि, अनन्त कहते हैं। इस प्रकार इस वाक्य में ऋषि लोगों नें तीन वस्तुओं को अनादि और अनन्त बतलाया है। एक अजा अर्थात् प्रकृति। दूसरी वस्तु वह अज है जो अजा अर्थात् प्रकृति से प्रीति करता है, उस अज का नाम जीव है, उसे जीवात्मा भी कहते हैं। तीसरी वस्तु वह अज है जो अजा से प्रीति में नहीं फँसता अर्थात् जो अजा को छोड़ देता है, जिसे ईश्वर या परमात्मा कहते हैं।"

"सुन्दर पंखों वाले, सदा साथ रहनें वाले, एक-दूसरे के मित्र, दो पक्षी हैं। दोनों एक ही वृक्ष पर निवास करते हैं। दोनों में से एक पक्षी तो उस वृक्ष के सुस्वादु फलों को खूब आनन्द से खाता है किन्तु दूसरा पक्षी नहीं खाता. वह केवल देखता मात्र ही रहता है। यह दो पक्षी हैं जीवात्मा तथा परमात्मा। वृक्ष है प्रकृति जीवात्मा कर्मफलों का उपभोग करता है, परमात्मा केवल साक्षीमात्र ही रहता है।"

इस प्रकार उन श्वेताश्वतर आदि महर्षियों नें दूसरी निश्चित बात यह बताई कि प्रकृति से ही यह सब विश्व बना हुआ है।

["आर्योदय" से साभार]

——

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

पहला अध्याय — २ से ७४ तक

१. विषय-प्रवेश — २
२. मुख्य प्रश्न — ३
३. काल और स्वभाव आदि सृष्टि-रचना के मुख्य कारण नहीं — ४
४. ध्यान-योग के द्वार सृष्टि-शकट का साक्षात्कार — १७
५. ब्रह्म-चक्र का प्रतिपादन — २१
(१) एक नेमि — २३
(२) तीन लपेटन या घेरे — २४
(३) सोलह अन्त — २४
(४) ब्रह्म-चक्र के पचास अरे — २५
(५) ब्रह्म-चक्र के बीस उप अरे — ३६
(६) छः अष्टक — ३६
(७) नाना प्रकार के रूपों वाली एक फाँस — ४०
(८) तीन प्रकार का मार्ग भेद — ४१
(९) दो निमित्त — ४१
(१०) एक मोह — ४१
६. नदी के रूप में शरीर का निरूपण — ४१
७. मुक्ति का मार्ग — ४७
८. परम ब्रह्म का गीत — ५२
९. बन्ध का कारण और मोक्ष का उपाय — ५३
१०. त्रैतवाद का सम्पोषण — ५६
११. त्रैतवाद का सुष्टिकरण — ५९

१२. ईश्वर-दर्शन का फल ६२
१३. ब्रह्म-ज्ञान ६३
१४. ओङ्कारोपासना ६९
१५. ओङ्कार-जप ७१
१६. ईश्वर की सर्वव्यापकता ७२
१७. परमब्रह्मोपनिषत् ७४

दूसरा अध्याय ७५ से ११९ तक

१. दूसरे अध्याय का मुख्य विषय ७५
२. राज-योग ७८
३. स्वर्ग की सीढ़ी ८४
४. सविता-देव की महिमा ९०
५. फिर सविता-देव की महिमा ९४
६. ईश्वर के अमृत पुत्र ९७
७. मानसिक एकाग्रता और शुद्धता के उपाय १०१
८. उपासना द्वारा विघ्नों का निवारण १०४
९. आसन-विधि १०५
१०. प्राणायाम-विधि १०९
११. उपासना का स्थान १११
१२. योग-सिद्धि के आरम्भिक लक्षण ११४
१३. योगी के फल ११५
१४. योग-सिद्धि के आरम्भिक लाभ ११६
१५. योग-साधन का विशेष लाभ ११६
१६. ईश्वर-दर्शन ११७
१७. ईश्वर का स्वरूप ११८
१८. नमस्कार ११९

तीसरा अध्याय १२० से १३९ तक

१. अमर-जीवन १२०

२. ईश्वर एक ही है १२१
३. सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् १२२
४. उत्तम बुद्धि की कामना १२३
५. शोभा और शान्ति की कामना १२४
६. संरक्षण की कामना १२४
७. ईश्वर-बोध का फल १२५
८. मृत्यु पर विजय-प्राप्ति का एक ही मार्ग १२६
९. सर्वोपरि, सर्वव्यापक एक ही १२६
१०. निराकार, जानने योग्य १२७
११. ईश्वर की सर्वव्यापकता १२८
१२. ईश्वर की महिमा १२९
१३. जीवात्मा का स्वरूप १२९
१४. ईश्वर का विराट् स्वरूप १३०
१५. फिर ईश्वर का विराट् स्वरूप १३१
१६. फिर ईश्वर का विराट् स्वरूप १३२
१७. सब का सर्वोपरि आश्रय १३३
१८. जीवात्मा बन्धन में है, ईश्वर बन्धनों में नहीं १३४
१९. निराकार, सर्वज्ञ १३५
२०. ईश्वर की कृपा से ही ईश्वर-दर्शन होता है १३६
२१. प्रत्यक्ष-दर्शी की उद्घोषणा १३८

चौथा अध्याय **१४० से १६६ तक**

१. उत्तम बुद्धि के लिये प्रार्थना १४०
२. अनेक नामों का नामी एक ही १४१
३. ईश्वर के लिंगभेद और अवस्थाभेद नहीं होते १४३
४. प्रकृति का प्रतिपादन १४४
५. ईश्वर, जीव और प्रकृति का पारस्परिक भेद १४७
६. त्रैतवाद १४९

७. जीवात्मा का शोक से छुटकारा — १५०
८. ओङ्कार की महिमा — १५१
९. ईश्वर और जीव का भेद — १५४
१०. माया और महेश्वर — १५५
११. ईश्वर-बोध से शान्ति की प्राप्ति — १५५
१२. फिर उत्तम बुद्धि की प्रार्थना — १५७
१३. सुखस्वरूप ईश्वर — १५८
१४. सृष्टि का रचयिता — १५९
१५. मृत्यु-विजय की युक्ति — १६०
१६. पाश-नाश की युक्ति — १६१
१७. विश्वकर्मा महात्मा — १६१
१८. वेद-ज्ञान का सनातन प्रकाशक — १६२
१९. मूर्तिपूजा का निषेध — १६३
२०. ईश्वर-दर्शन की युक्ति — १६४
२१. आर्य-विनय — १६४
२२. संरक्षण की प्रार्थना — १६५

पांचवां अध्याय — १६७ से १८१ तक

१. त्रैतवाद का स्वरूप — १६७
२. सृष्टि का निमित्त-कारण — १६८
३. सृष्टि का रचयिता एक ही है — १६९
४. सब का एक ही प्रशासक — १७१
५. निमित्त-कारण — १७१
६. प्राचीन इतिहास का संकेत — १७२
७. जीवात्मा का स्वरूप — १७३
८. जीवात्मा का परिमाण — १७४
९. अणु परिमाण का विचार — १७६
१०. जीवात्मा का लिंग-भेद नहीं होता — १६७

११. देह-प्राप्ति का सिद्धान्त १७६
१२. विविध प्रकार के शरीर १७८
१३. शरीर बन्धन से मुक्ति १७९
१४. शरीर-प्राप्ति का मुख्य उद्देश्य १८०

छठा अध्याय १८१ से २०८ तक

१. उपसंहार का आरम्भ १८१
२. कर्म-प्रवाह का संचालक १८२
३. वह अलौकिक लीलाधर १८३
४. निष्काम कर्म का प्रभाव १८४
५. उपासना का आदेश १८५
६. ब्रह्मज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति १८७
७. अपरोक्षानुभूति १८८
८. अनन्त शक्तियों का भण्डार १९८
९. स्वयम्भू, स्वामी, कारणों का भी कारण १९०
१०. उपासक की हार्दिक कामना १९१
११. सगुण और निर्गुण १९२
१२. परमात्मा का आवास १९८
१३. ईश्वर की महिमा २००
१४. ज्योतिः स्वरूप २०१
१५. एक हंस २०१
१६. स्थिति, बन्ध और मोक्ष का विधाता २०२
१७. संस्थान-संचालक २०३
१८. मुमुक्षु का आत्म-निवेदन २०३
१९. मेरा आराध्य-देव २०४
२०. ईश्वर-दर्शन आवश्यक है २०५
२१. उपनिषद्कार २०६
२२. इस उपनिषदोपदेश के अधिकारी २०६
२३. उपदेश की फलश्रुति २०८

—०—

॥ ओ३म् ॥

श्वेताश्वतरोपनिषद्

शान्ति - पाठ

ओ३म् सहनाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ओ३म् शान्तिः, शान्तिः शान्तिः ॥

गुरु और शिष्य प्रार्थना करते हैं :—

शब्दार्थ—(ओ३म्) वह सर्वरक्षक, परमपिता परमात्मा (नौ) हम दोनों को (सह) साथ-साथ (अवतु) रक्षा करे । (सह) साथ-साथ ही (नौ) हम दोनों का (भुनक्तु) भरण-पोषण करे । हम दोनों (सह) साथ-साथ=पारस्परिक सहयोगपूर्वक (वीर्यम्) विद्या और विज्ञान विषयक सामर्थ्य को (करवावहै) प्राप्त करें । (नौ) हम दोनों का (अधीतम्) पठन-पाठन=अधिगत ज्ञान-विज्ञान (तेजस्वी) तेजस्वी, प्रभावकारी, व्यवहारोपयोगी (अस्तु) होवे । हम दोनों आपस में एक दूसरे से (मा विद्विषावहै) द्वेष न करें ।

(ओ३म्) हे सर्वरक्षक परमात्मन् ! (शान्तिः) नाना प्रकार के हिंसक प्राणियों से हमारा संरक्षण करते हुए हमें शान्ति प्रदान करो । (शान्तिः) अतिवृष्टि और ——

वृष्टि आदि के सभी प्रकोपों का निवारण करते हुए हमें शान्ति प्रदान करो।

विशेष—हे देवाधिदेव! आप की कृपा से हमारे त्रिविध तापों का प्रशमन हो। हमें शान्ति प्रदान करो। हमें वास्तविक शान्ति प्रदान करो। आपकी कृपा से हमारा जीवन सुखी, शान्त, उन्नत और सभी प्रकारों से सफल हो।

पहला अध्याय

१—विषय-प्रवेश

ब्रह्मवादिनो वदन्ति

शब्दार्थ—(ब्रह्मवादिन:) ब्रह्मवादी (वदन्ति) कहते हैं।

विशेष—एक बार एक सभा में ईश्वर के कुछ उपासक एकत्रित होकर आपस में ईश्वर विषयक विचार-विमर्श करने लगे। उपनिषद्कार ने यहां उन ईश्वरोपासकों के लिये "ब्रह्मवादी" शब्द का प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य यह है कि वे आस्तिक थे। वेद के अनुगामी भी थे, ईश्वर के मानने वाले भी ब्रह्म अर्थात् वेद और ईश्वर का साधारण ज्ञान तो उनको था ही; तथापि वे विशेष ज्ञान की प्राप्ति के लिये उस गम्भीर ब्रह्म-विचार में प्रवृत्त हुए

थे। उनके विचार का विषय यह नहीं था कि इस सृष्टि-प्रपंच का कारण क्या है ? अपितु उनका मुख्यविषय यह था कि कारण-ब्रह्म क्या है ? अर्थात् इस सृष्टि का उपादान-कारण क्या है ? निमित्त-कारण क्या है ? और इस सृष्टि-प्रपंच का मुख्य उद्देश्य क्या है ?

२—मुख्य प्रश्न

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्मः जाता,
जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः ।
अधिष्ठिता केन सुखेतरेषु,
वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥१॥

शब्दार्थ—(कारणम् ब्रह्म) इस सृष्टि-रचना का मूल कारण=मुख्यकारण भूत ईश्वर (किम्) क्या है ? कैसा है ? कौन है ? (कुतः) कहां से, किस को प्रेरणा से (जाताः स्म) हम सब उत्पन्न हुए हैं ? (केन) किस की कृपा से (जीवाम) हम जीवित हैं ? (च) और (संप्रतिष्ठा, क्व) हम किसमें सुप्रतिष्ठित हैं ? हमारे अस्तित्व का आधार क्या है ? अथवा प्रलय-काल में हम सब कहीं रहते हैं ? प्रलय की प्रवर्त्तना किसमें होती है ? हम सब (ब्रह्मविदः) धन के अभिलाषी, वेद के अनुगामी, ईश्वर के उपासक और जिज्ञासु (केन अधिष्ठिताः) किसके द्वारा अधिष्ठित=अनुशासित होकर (सुख-इतरेषु) सुखों और

दुःखों से परिपूर्ण नानाविधा अवस्थाओं=परिस्थितियों में (वर्तामहे) आवर्तित होते हैं, प्राप्त होते हैं, सुख-दुःख भोगते हैं ?

विशेष—हम सब सदैव—सर्वत्र सुखों की ही कामनायें किया करते हैं; परन्तु अपने मनचाहे सुख हमें मिलते नहीं। दुःख की अभिलाषा तो हम में से कोई कभी भी नहीं करता; तथापि समय-समय पर नाना प्रकार के दुःख हमें भोगने तो पड़ते ही हैं। इस संसार में जो व्यवस्था पाई जाती है, उसका व्यवस्थापक कौन है ? इस संसार में जो नियम-बद्धता पाई जाती है, उसका नियामक कौन है ? इस सुनियोजित सृष्टि-शकट का प्रवर्त्तक कौन है ? नियो-जक, प्रकाशक, विकासक, संचालक कौन है ? वह मूलभूत-सामग्री क्या और कैसी है, जिससे यह सृष्टि बनी है ? इस सृष्टि-रचना का उपादान कारण क्या है ? और इस रचना-कौशल का उद्देश्य क्या है ? किस के लिये है, यह विश्व-प्रपंच ?

२—ये काल और स्वभाव आदि सृष्टि-रचना के मुख्य कारण नहीं हैं।

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा,
भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न त्वात्मभावात्,
आत्माप्यनीशः सुख दुःख हेतोः ॥२॥

१—(कालः) क्या काल सृष्टि-रचना का मुख्य कारण है ?

विशेष—वे जिज्ञासु उपासक विचार करने लगे कि क्या ईश्वर से भिन्न कोई भी अन्य जड़ या चेतन तत्त्व ऐसा है, या नहीं, जिसे सृष्टि-रचना का कारण स्वीकार किया जा सके ? उन्होंने सर्वप्रथम "काल" को ही अपनें विचार का विषय बनाया ।

जिसके विषय में—"अब, तब, जब, कब"—इन शब्दों का व्यवहार होता है, उसे काल कहते हैं। व्यवहार के लिये विद्वांनों ने छोटे-बड़े बहुत से काल-खण्ड कल्पित कर रखे हैं। भूतकाल, वर्तमान काल, और भविष्यत्-काल—ये तोन काल तो बहुत ही प्रसिद्ध हैं। ऋतु-भेद से एक हों अखण्ड और नित्यकाल को छः ऋतुओं के रूप में वेदों द्वारा दर्शाया है ।

बसन्त इन्नु रन्त्यो, ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः ।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्त शिशिर इन्नु रन्त्यः ॥

[साम पू० ६।३।१३।२]

बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर सभी रमणोय हैं। इन सबकी हो अपनो-अपनो विशेषतायें हैं ।

किसी को उत्पत्ति बसन्त में होती है, किसी को ग्रोष्म में, किसी को वर्षा में, किसी को किसो अन्य ऋतु में । एक हो अखण्ड काल को लोक-व्यवहारों को उपयोगिता के

लिये पल, घड़ी, प्रहर, दिन, पक्ष, मास एवं वर्ष आदि बहुत से काल्पनिक खण्डों में विभाजित किया जाता है। सैकेण्ट, मिनट, घण्टा, और सप्ताह आदि का विचार भी काल्पनिक ही है। ऐसी काल विषयक कल्पनायें, परिभाषायें और संज्ञायें अन्य भी बहुत हैं। काल्पनिक शब्द का प्रयोग यहां घटिया, व्यर्थ या किसी अन्य लाक्षणिक अर्थ में नहीं है। कल्पित अर्थ में ही यह काल्पनिक प्रयोग है। काल्पनिक होने पर भी इन काल-परिभाषाओं की व्यावहारिक उपयोगिता बहुत अधिक है।

प्रत्येक वस्तु की रचना का एक सामान्य कारण काल भी है। जो कुछ भी घटना-क्रम घटित होता है, वह काल के अन्तर्गत ही होता है। काल-बन्धन से मुक्त तो ईश्वर की सत्ता और महत्ता ही है। प्रत्येक रचना-क्रम में कुछ समय तो लगता ही है।

जैसे काल निराकार और एक सामान्य कारण है, ऐसे तो दिशा और आकाश आदि और भी कई निराकार तत्त्व और सामान्य-कारण हैं। काल को सृष्टि-रचना का मुख्य-कारण किसी प्रकार से भी नहीं माना जा सकता। वह क्षमता इस जड़ और शून्य-समान काल में है ही कहां, जो इस सुव्यवस्थित सृष्टि की रचना के लिये अपेक्षित है ?

काल में न कोई इच्छा है, न कोई कर्तृत्व, न कोई चेतनता। ज्ञान भी नहीं, सामर्थ्य भी नहीं। "काल बड़ा

बलवान् है।" यह कथन तो सम्पूर्ण परिस्थितियों, चेष्टाओं, घटनाओं और सम्बन्धित पात्रों के विचार के साथ ही सार्थक होता है। काल की दौड़ प्रसिद्ध है—

गया है सांप निकल,
अब लकीर पीटा कर।

अथवा—

जो जाके न आये,
वह जवानी देखी।
जो आके न जाये,
वह बुढ़ापा देखा।

काल विषयक ये सब प्रयोग लाक्षणिक हैं।

२—(स्वभावः) क्या स्वभाव सृष्टि-रचना का मुख्य कारण है?

विशेष—नहीं। अग्नि-संतप्त, दाहक और प्रज्वलनशील है। जल-शीतल, स्निग्ध एवं बहने वाला है। वायु-गतिशील भी है, सूक्ष्म और स्पर्शवान् भी। पृथिवी-गन्धवती है। आकाश-व्यापक, निराकार और शब्द गुणवाला है। क्या इन पांच महाभूतों के ये स्वाभाविक गुण ही इस सृष्टि रचना के मुख्य कारण हैं? नहीं, ऐसा होना सम्भव नहीं है। इन जड़ तत्त्वों और इनके स्वाभाविक गुणों का बुद्धिपूर्वक एवं यथा योग्य उपयोग करने वाला तो कोई और ही है। वह कहां है? वह कौन है? विचारणीय यही है।

३—(नियतिः) क्या नियति अर्थात् प्रारब्ध ही सृष्टि-रचना का मुख्य कारण है ?

विशेष—नहीं। हम चाहते हैं कुछ और, होता है कुछ और। बड़े-बड़े बुद्धिमानों के सुनियोजित आयोजन एवं प्रयत्न भी विफल हो जाते हैं। कहने-सुनने में ऐसा आता है कि होनहार बड़ी बलवान् है। भाग्य की रेखा को कौन मिट सकता है ? परन्तु न कोई होनहार पूर्व निश्चित है, न ही कोई भाग्य-रेखा। ऐसा होना असम्भव है। ऐसा होने पर तो पुरुषार्थवाद और कर्म-सिद्धान्त के सभी उपक्रम समाप्त हो जायेंगे। कर्त्ता की स्वतन्त्रता का अन्तमान लेने से तो पुण्य, पुण्य नहीं रहेगा। पाप, पाप नहीं रहेगा, अपराध, अपराध नहीं रहेगा और दोषी, दोषी नहीं रहेगा। तब तो सम्पूर्ण न्यायाधिकरण ही समाप्त हो जायेगा।

जिसे भाग्य वा प्रारब्ध कहा जाता है, वह तो कृत कर्म का प्रतिफल अथवा पुरुषार्थ का परिणाम ही है। कर्मों का प्रतिफल स्वतन्त्र कर्मकर्त्ता प्राणियों को कर्म-भोग-चक्र के व्यवस्थापक की व्यवस्था के अनुसार ही प्राप्त होता है। इस सृष्टि में सुव्यवस्था भी है, विविधता भी। यहां सुनियमित व्यवहार तो है; परन्तु नियति की कोई जकड़-बन्दी यहां पर नहीं है। किसी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् नियामक के विना यह नियति बेचारी तो कुछ भी नहीं कर सकती।

४—(यदृच्छा) क्या यदृच्छा ही सृष्टि-रचना का मुख्य-कारण है ?

विशेष—नहीं। यह यदृच्छा तो उस नियति से सर्वथा ही उलटी बात है। वह अत्यन्त सुनिश्चित् थी। यह अत्यन्त अनिश्चित् है। कभी कुछ, और कभी कुछ। कहीं कुछ, और कहीं कुछ। यह तो एक बड़ा घोटाला या गड़-बड़ झाला है। इस सृष्टि में तो सर्वत्र ही सुव्यवस्था पाई जाती है। यहां तो सब काम उत्तम नियमों के अनुसार ही होते हैं। यहां कुछ भी अचानक अथवा अकारण नहीं होता। अचानक या अकारण शब्दों का व्यापार तो मानवी त्रुटियों और अल्पज्ञताओं का ही प्रतिबोधक है। इस यदृच्छा को सृष्टि-रचना का मुख्य तो क्या, गौण कारण भी नहीं माना जा सकता। विचार आगे चलता है।

५—(भूतानि) क्या पांच महाभूतों—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश को सृष्टि-रचना का मुख्य कारण मान लें ?

विशेष—नहीं। यह नाम-रूपमय संसार इन पांच महाभूतों का विकार ही तो है। हां, इस विकार में व्यवस्था भी है, सन्तुलन भी, सौन्दर्य भी और उपयोगिता भी। इस में अटल नियमों का तारतम्य है, बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवहार भी। इन जड़-तत्त्वों का, यह ऐसा सुन्दर खेल और मेल क्या किसी चेतन और सर्वज्ञ कर्तृ सत्ता के बिना हो हो रहा है ? नहीं-नहीं, ऐसा होना तो सम्भव ही नहीं है। किसी सर्वज्ञ और सर्वशक्ति सम्पन्न कर्त्ता के अभाव में,

अथवा उसकी कृपा और सहायता के बिना संस्कृति का यह सुव्यवस्थित खेल कैसे खेला जा सकता है ?

इन पांच महाभूतों को तो सृष्टि का उपादान कारण ही स्वीकारा जा सकता है। इन जड़-तत्त्वों में जो कर्तृत्व-सा परिलक्षित होता है, वह इनका अपना नहीं है। जड़-तत्त्वों का या कार्य-विस्तार तो किसी सर्वोपरि, सूक्ष्मतम और व्यापक, सर्वज्ञ कर्त्ता की सत्ता और महत्ता का पता देता है। रसायन-विद्या के आधार पर कारण-ब्रह्म की जिज्ञासा का सम्यक्-समाधान सम्भव नहीं है।

६—(योनिः) क्या योनि ही सृष्टि का मुख्य कारण है ?

विशेष—नहीं, संसार में जीव-जन्तुओं, पशु-पक्षियों, मनुष्यों और वृक्षों आदि के जंगम और स्थावर भेद-प्रभेद वाली बहुत-सी योनियां अनन्त-काल से उत्पत्ति, स्थिति और क्षय के दृश्य प्रस्तुत करती हुई चलती चली आ रही है। इस परम्परा में भी कार्य-कारण की अटूट-परम्परा मौजूद है।

बीज से अंकुर फूटता है। माता-पिता की चेष्टा, कामना, संकल्प-शक्ति-और अनुरक्ति के अनुरूप ही सन्तति का जन्म, विकास और विस्तार होता है। योनियों के इस विकास और तिरोभाव की सनातन परम्परा में नानत्व के अन्दर ही एकत्व भी मौजूद है, विविधता में समानता भी

वर्त्तमान है, अथवा यूं कहे कि भेद में अभेद और अभेद में भेद भी सुस्पष्ट है। इस कथन के पारस्परिक सम्बन्ध सूचक भेद-भाव, स्थूल और सूक्ष्म विचार-विस्तार भी बहुत अधिक हैं।

चेतन प्राणियों के रूप-रंग, आकार-प्रकार, दुःख-सुख, सम्पन्नता और विपन्नता आदि का विशेष कारण क्या है? इस प्रश्न के सन्तोष-जनक उत्तर के अभाव में योनि को सृष्टि-रचना का मुख्य या गौण कारण कैसे माना जा सकता है? वस्तु स्थिति तो कुछ और ही है।

कुछ आचार्यों ने "योनिः" को प्रकृति मानकर भी अपने व्याख्यान रचे हैं। ऐसा करना ठीक नहीं है। क्योंकि प्रकृति का विचार तो पांच महाभूतों के साथ हो जाता है। प्रकृति या पांच महाभूतों में कोई तात्विक भेद नहीं है।

यहां जो "योनि" पद प्रयोग है, इसका विचार कतिपय आचार्यों ने एक भिन्न रीति से भी किया है। वे "योनिः" पद का विचार किसी स्वतन्त्र सम्भावित कारण के रूप में नहीं करते। वे इसे अन्य सात सम्भावित कारणों के साथ ही जोड़ते हैं। और इस रीति से सात सामान्य या सम्भावित कारणों का ही विचार करते हैं। यथा—

काल-योनि, स्वभाव-योनि, नियतियोनि, यदृच्छा-योनि, भूत-योनि और पुरुष-योनि, अर्थात् जीवात्म-योनि। और इन सबकी संघाय-रूपा संयोग-योनि।

इस प्रकार आठ के स्थान में इन सम्भावित वा सामान्य करणों को संख्या सात ही रह जाती है। इस विचार-रीति में कोई विशेषता प्रतीत नहीं होती। "योनि" पद के व्यापकतमों अर्थों का समाहार करने पर भी अर्थ विचार में कोई चमत्कार नहीं होता। अतः "योनिः" पद का पृथक् और स्वतन्त्र सम्भावित कारण अथवा सामान्य-कारण के रूप में विचार ही अधिक युक्त है। इस उपनिषद् के अधिकांश व्याख्याताओं ने ऐसा ही किया है। आठ पक्षों का विचार ही कर्त्तव्य है। एक सम्भावित विचार-पक्ष को छोड़ा ही क्यों जाये ?

७—(पुरुषः) क्या जीवात्मा ही इस सृष्टि का मुख्य कारण है ?

विशेष—नहीं, यह भी नहीं। यह जीवात्मा नाम जातिवाचक है। इस ब्रह्माण्ड में मानवी संख्या के अनुसार जीवात्माओं की संख्या अनन्त है।

प्रत्येक छोटे वा बड़े शरीर का स्वामी अथवा अभिमानी एक जीवात्मा होता है। एक बड़े शरीर के आश्रय में बहुत से छोटे-छोटे शरीर अर्थात् छोटे-छोटे शरीरोंवाले बहुत से जीवात्मा भी रह सकते हैं। ऐसे जीवात्मा अपने-अपने छोटे शरीरों के तो अभिमानी जीवात्मा ही होते हैं, परन्तु बड़े और आश्रय भूत शरीर से उनकी पृथकता दर्शाने के लिये उन्हें "अनुशेयी—जीवात्मा" बोला जाता है।

सभी जीवात्मा अल्पज्ञ भी हैं, अल्प सामर्थ्य-वाले और एकदेशो भी। किसो निमित्त विशेष से प्रत्येक जोवात्मा अपने ज्ञान और सामर्थ्य को कुछ बढ़ा भी सकता है। प्रयत्न करके वह अज्ञान नियमों को भो जान लेता है। वह सृष्टि में वंर्तमान पदार्थों की कुछ भूण्डो-भूण्डो सी, अधूरो-अधूरो, मिश्रित और अमिश्रित नकलें भी तैयार कर लेता है। वह स्थूल और सूक्ष्म भौतिक विकारों को किसो नये रूप में विकसित या परिवर्तित भी कर देता है। यह सब होते हुए भो अल्पज्ञ, अल्प-सामर्थ्यवान्, एक देशो, किसो एक जीवात्मा अथवा जोवात्माओं के किसी समूह-विशेष को सृष्टि-रचना का मुख्य या गौण कारण नहीं माना जा सकता।

जोवात्माओं के लिये हो यह सम्पूर्ण सृष्टि बनी हैं, अर्थात् जीवात्माओं का भोग और अपवर्ग हो इस सृष्टि के आविर्भाव का मुख्य उद्देश्य है। यह विवाद का विषय नहीं है। इसके अनुसार इस सृष्टि का एक अल्पज्ञ और अल्प-सामर्थ्यवान् निमित्त-कारण जीवात्मा-समुदाय को भी माना जा सकता है। परन्तु सृष्टि-रचना का मुख्य निमित्त-कारण जीवात्मा-समुदाय नहीं है।

जीवात्मा-समुदाय तो देश, काल और कर्मबन्धन के अधीन भी हो जाया करता है। किसी छोटे या बड़े शरीर के अभाव में तो जोवात्मा को कर्तृत्वशक्ति भो कुण्ठित

या व्यर्थ-सी हो जाती है। शरीर के बिना न तो कोई जीवात्मा सृष्टि का उपभोग ही कर सकता है, न अपवर्ग-प्राप्ति का कोई प्रयास। लिंग-शरीर हो, कारण-शरीर हो, सूक्ष्म-शरीर हो, छोटा हो या बड़ा, स्थूल हो या सूक्ष्म अपने अस्तित्व और कर्तृत्व को सार्थक करने के लिये जीवात्मा को शरीर-प्राप्ति तो आवश्यकता ही है।

प्रश्न उभरता—वह कौन है जो जीवात्माओं को उन-उनके लिये यथोचित अथवा अभिकामित शरीर प्रदान करता है ? विचार का परिणाम सुस्पष्ट है कि अपने लिये, अपने अभिकामित शरीरों को रचना का सामर्थ्य किसी भी जीवात्मा में नहीं है। मनोविज्ञान की उच्चतर और उच्चतम भूमिकाओं में पहुंच कर भी जीवात्मा, अल्पज्ञ और अल्प-सामर्थ्यवान् हो रहता है। जीवात्मा जो कुछ चेष्टा करता है, वह सब भी किसो छोटे या बड़े शरीर के आश्रय से हो करता है। यह जोवात्मा सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् तो कभी हो ही नहीं सकता। अत्युक्ति तो कथन-मात्र ही होती है।

(इति चिन्त्यम्) यहां यह पक्ष कुछ विशेष विचार करने योग्य है। (आत्मा) जोवात्मा तो (अनीशः) अनोश है। अन—ईश है। यह स्वामी या सम्पन्न नहीं। यह तो असमर्थ और पराधीन है। (अपि) क्योंकि इस विषय में (सुख-दुःखहेतोः) सुख और दुःख की प्राप्ति का एक बड़ा हेतु भो मौजूद है।

विशेष—जीवात्मा अपने अभीष्ट सुखों की प्राप्ति में स्वतन्त्र वा समर्थ नहीं है। अपने दुःखों को हटाने में भी वह स्वतन्त्रतापूर्वक समर्थ नहीं है। प्राकृतिक पदार्थों से ही कुछ-कुछ सुखोपलब्धि होती है; परन्तु इन प्राकृतिक पदार्थों का निर्माता जीवात्मा तो नहीं है। सभी स्थानों और सभी परिस्थितियों में सुखद भौतिक पदार्थों को अभीष्ट मात्रा में उपलब्धि भी सम्भव नहीं है। एक विचित्रता यह भी है कि जब भोगियों की भोग-लालसायें अधिक बढ़ जाती हैं, तब उनका भोगायतन=शरीर भोगों के उपभोग में असमर्थ हो जाता है।

कोई जीवात्मा किसी एक सुख की कामना करता है। वह अभिकामित सुख उसे नहीं मिलता। जीवात्मा अपने किसी सुख को सुरक्षित रखना और चिरकाल तक उसका उपभोग करना चाहता है। परन्तु जीवात्मा के न चाहने पर भी इसका वह सुख नष्ट हो जाता है। कोई जीवात्मा किसी दुःख की कामना तो कभी करता ही नहीं। तथापि; विवश होकर नाना प्रकार के दुःख तो सभी जीवात्माओं को भोगने ही पड़ते हैं। यह बात दूसरी है कि अज्ञानी दुःखों को रो-रोकर भोगते हैं, और ज्ञानी उनको हँसते-हँसते ही भोग लेते हैं। जीवात्मा-समुदाय तो अपने दुःखों का निवारण और प्रतिकार करने में भी अत्यन्त असमर्थ है। हम सब का अपना-अपना अनुभव प्रमाण है।

भव-बन्धन में पड़ने के लिये किसी भी जीवात्मा का, अथवा सब जीवात्माओं का, अपने आप ही अपने लिये, अथवा अपने-अपने लिये अपनी शरीर-रचना और सृष्टि-रचना कर लेना, न तो शक्य है, न उचित। अतः सृष्टि-रचना का मुख्य कारण तो कुछ और ही है।

८—क्या (एषाम्) इन सब पूर्वोक्त-काल से जीवात्मा-समुदाय तक के जड़ और चेतन तत्त्वों का (संयोगः) संयोग ही=सुसमन्वय ही इस सृष्टि-रचना का मुख्य कारण है ?

(न) नहीं। ऐसा भी नहीं है क्योंकि काल आदि छः तत्व तो जड़ हैं। (आत्मा-अभावात्) आत्मा=चेतनता के अभाव में वे अकेले-अकेले या सब मिलकर भी कुछ नहीं कर सकते। (आत्मा-अपि-अनीशः) आत्मा-जीवात्मा-समुदाय भी पराधीन है। इसे देश और काल के बन्धन में रहना पड़ता है। यह बेचारा तो अपने सुखों की प्राप्ति और दुःखों से निवृत्ति के लिये भी दूसरों का मोहताज है। यह कर्म करने में ही स्वतन्त्र है, फल-प्राप्ति में यह स्वतंत्र नहीं है।

विशेष—अतः सृष्टि-रचना का मुख्य कारण तो इन आठ पक्षों या विकल्पों से भिन्न कुछ और ही है। वह क्या है ? यह एक गम्भीर प्रश्न है ? यहां पर यही तो मुख्य रूप से विचारणीय है। परन्तु विचार-विमर्श का

कोई साधारण प्रकार या व्यवहार इस विषय में अधिक सहायक नहीं है।

वे विचारक, जिज्ञासु और ब्रह्म के उपासक बहुत अधिक ऊहापोह, विचार-विमर्श और वाद-विवाद करके भी कोई ऐसा सम्यक्-समाधान प्राप्त नहीं कर सके, जिसे सृष्टि-रचना का मुख्य कारण और जीवात्माओं के सुख-दुःख-भोग आदि का प्रबल एवं सन्तोषजनक हेतु स्वीकारा जा सके। सृष्टि-प्रपंच का यथार्थ प्राप्त करने के लिए उन्होंने ध्यान-योग का अनुष्ठान किया। यह ध्यान-योग एक असाधारण विद्या है। इसका थोड़ा-सा उपदेश इसी उपनिषद् के दूसरे अध्याय में है। इसका विशेष विधान पातंजल-योग-दर्शन में है।

४—ध्यान-योग के द्वारा सृष्टि-शकट का साक्षात्कार

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्,
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि,
कालात्मयुक्तानि अधितिष्ठति एकः ॥३॥

शब्दार्थ—(ध्यान-योगानुगताः, ते) ध्यानयोग में निमग्न होकर सृष्टि-रचना के वास्तविक मुख्य कारण का बोध प्राप्त करने की जिज्ञासा रखने वाले, उन ब्रह्मवादी विचारकों ने (स्वगुणैः निगूढाम्) अपने गुणों में निगूढ़= गुप्त (देवात्म-शक्तिम्) उस परमदेव की निजशक्ति को (अपश्यन्) देखा।

अथवा—समाधि लगाकर विचार करने पर उन्होंने (देव) परमात्मा को (आत्म) जीवात्मा-समुदाय को और (शक्तिम्)सम्पूर्ण विश्व की उपादान कारण स्वरूपा कारण-प्रकृति को—इन तीनों की (स्वगुणैः-निगूढाम्) अपने-अपने गुण, कर्म, स्वभावसमुदाय में सुरक्षित है।

विशेष—उन्होंने सृष्टि के कार्यों को देखकर उस महान कर्त्ता और सृष्टि के सर्वोपरिकारण का अनुमान ही नहीं किया; अपितु उन्होंने अपने-अपने योगबल के आधार पर, समाधि को अवस्था में उस परम तत्व-ब्रह्म को प्रत्यक्ष देखा।

(यः) जोकि (काल-आत्म युक्तानि) काल से लेकर जीवात्मा-समुदाय तक (तानि) उन पूर्वोक्त (निखिलानि) सब=आठ (कारणानि) कारणों का भी परम कारण है। जो (एकः) एक अकेला ही किसो दूसरे को सहायता के बिना ही सब जड़ और जंगम पदार्थों, तत्त्वों और कार्य-क्रमों आदि का (अधितिष्ठति) अधिष्ठान करता है।

विशेष—इस तीसरे श्लोक* का सारांश इस प्रकार है—

* इस उपनिषद् में उपनिषद्कार ने यत्र-तत्र कुछ वेद-या वेद-मन्त्रों के खण्ड भी उद्धृत किये हैं। ऐसे वेद-मन्त्रों में कुछ नये पद भी पाठ-भेद के रूप में मिलते हैं। वे पाठ-भेद उपनिषदकार का ही रचना-कौशल है, या किसी अन्य

१—अनन्त गुण, कर्म और स्वभाव का स्वामी और अपने अनन्त गुण, कर्म, स्वभाव सूचक नामों का एक ही नामी ईश्वर ही इस सृष्टि का अधिष्ठाता, स्वतन्त्र, चेतन निमित्त कारण है।

२—जीवात्मा=जीवात्मा-समुदाय इस सृष्टि का परतन्त्र, चेतन, निमित्त-कारण है।

३—प्रकृति अपने सभी विकारों के साथ इस सृष्टि का परतन्त्र, जड़, उपादान कारण है। प्रकृति को ही योनि,

---

प्राचीन आचार्यं का चमत्कार ? इस विषयों में अब निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। उपनिषदों के वचनों को भी कुछ क्षेत्रों में विभ्रम अथवा श्रद्धातिरेकवश वेद-मन्त्रों के समान ही श्रुति वा मन्त्र लिखा बोला जाता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् को तो मन्त्रोपनिषद् ही माना जाता है। उपनिषद् वचनों को अपौरषेय वेदों से पृथक् दर्शाने के लिए "श्लोक" पद का प्रयोग ही उपनिषदों के लिये करना चाहिये। हां, गद्यात्मक वचनों के लिये "कण्डिका" पद का प्रयोग अधिक उचित है। उपनिषद्-साहित्य किसी भी रूप में अपौरषेय, श्रुति या अपौरषेय वेदवत् "मन्त्र" नहीं है। कुछ अंशों में यह कतिपय वैदिक-सन्दर्भों का एक प्रकार का अर्थवाद है, कतिपय अंशों में प्राचीन विचारकों का रहस्यमय लेखा-जोखा।

—अनुवादक

अव्यक्त, प्रधान, स्वधा, अनादि कारण प्रकृति, माया, अजा, पंचतन्मात्र और पांच सूक्ष्म भूत एवं महाभूत भी कहते हैं। प्रकृति के पारिभाषिक और वैदिक अन्य भी कई नाम हैं।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पांच तत्त्व महाभूत वा भूत कहलाते हैं। कई आचार्य चार ही भूत या महाभूत कथन करते हैं। नित्य और अरूप आकाश को वे अपनी गणना में छोड़ देते हैं। पांच महाभूतों में आकाश का परिगणन व्यावहारिकता के उपयोगी विचार से ही होता है। तात्त्विकता की दृष्टि से तो आकाश नित्य, अखण्ड और निराकार ही है। शब्द आकाश का गुण है। यह तो सभी स्वीकारते हैं। आकाश की नित्यता के साथ ही शब्द की नित्यता भी अपने आप ही सिद्ध हो जाती है। गुण और गुण का नित्य-सम्बन्ध=समवाय-सम्बन्ध निर्विवाद है। अतः शब्द की अनित्यता का उपदेश भ्रान्त होने के कारण त्याज्य है।

स्वभाव भी एक सामान्य-कारण या विचार-पक्ष है। इसी प्रकार उक्त निमित्तकारणों, उपादान-कारणों और सामान्य-कारणों का संयोग भी एक सामान्य-कारण है।

सर्वोपरि चेतन, स्वतन्त्र, निमित्त कारण ईश्वर और परतन्त्र, चेतन निमित्त-कारण जीवात्मा-समुदाय, तथा परतन्त्र जड़ निमित्त-कारण काल, नियति [प्रारब्ध] यदृच्छा, और योनि, एवं उपादान-कारण प्रकृति ये सब मिलकर इस

सृष्टि-रचना के तेरह कारण हैं। इनका परिगणन इस प्रकार है :—

१. ईश्वर, २. जीवात्मा [जीवात्मा-समुदाय] ३. काल, ४. नियति [प्रारब्ध] ५. यदृच्छा, ६. योनि और पांच महाभूत—७. पृथिवी, ८. जल, ९. अग्नि, १०. वायु ११. आकाश, १२. स्वभाव और १३. इन सब जड़ तथा चेतन निमित्त, सामान्य और उपादान कारणों का ईश्वर द्वारा प्रेरित एवं अनुशासित संयोग।

प्रकृति का विचार और समावेश पांच महाभूतों के अन्तर्गत ही होता है।

—ब्रह्म-चक्र का प्रतिपादन

विशेष—उपनिषद्कार के इस चौथे श्लोक में जो चक्र का सांकेतिक रूपों में प्रतिपादन किया है, वह सांख्य-दर्शन और सांख्य-कारिका प्रभृति सांख्य-सिद्धान्त प्रतिपादक ग्रन्थों के अनुसार है। इससे सांख्य-सिद्धान्त की शुद्धता, प्राचीनता और प्रामाणिकता ज्ञात होती है। वैदिक-तत्त्व-ज्ञान को ही मध्ययुग के आचार्यों ने यह पारिभाषिक "सांख्य" नाम प्रदान किया था। सृष्टि की पहेली को सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार ही खोला, समझा और सुलझाया जा सकता है। भ्रान्तिवश कुछ आचार्यों ने सांख्य-दर्शन को अनीश्वरवादी और सांख्य-प्रणेता महर्षि कपिल को नास्तिक बताना आरम्भ कर दिया था। महर्षि दयानन्द

जी सरस्वती के नीर-क्षीर विवेचक पुरुषार्थ के परिणाम-स्वरूप अब उस मिथ्यावाद का अन्त हो गया है। गीताकार का कथन है—

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानम्।

सांख्य से बढ़कर या उसके समान और कोई ज्ञान है ही नहीं।

सांख्य-दर्शन-प्रणेता के विषय में गीताकार ने लिखा है—

सिद्धानां कपिलोमुनि।

सिद्ध पुरुषों में महर्षि कपिल मुनि ही सर्वश्रेष्ठ हैं।

भारत के दार्शनिक आचार्य वैदिक तत्त्वज्ञान के सिद्धान्त-पक्ष तो सांख्य और क्रिया पक्ष को योग कहते हैं। गीताकार ने भी सांख्य और योग की एकता दर्शाई है—

एकं सांख्य च योगं च
यः पश्यति, स पश्यति।

सांख्य और योग को जो एक ही समझता है, वही सच्चा ज्ञानी, दार्शनिक और तत्त्व-द्रष्टा है।

उपासना-कर्म में सर्वाधिक सहायता सांख्य और योग-दर्शनों से ही प्राप्त होता है। विशेष जानकारी के लिये सांख्य और योग विषयक ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये।

तमेक वेमि त्रिवृतं षोडशान्तं,
शतर्धारं विंशति प्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्व रूपैकपाशं,
त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैक मोहम् ॥४॥

शब्दार्थ—(तम्) उस (एक नेमिम्) एक नेमिवाले, (त्रिवृतम्)तीन घेरों वाले, षोडशान्तम्) सोलह सिरों वाले, (शतर्धारम्) पचास अरों वाले, (विंशति प्रत्यराभिः) बीस सहायक अरों से (षड्भिः अष्टकैः) और छः अष्टकों से युक्त (विश्वरूप) विविध प्रकार के रूपों वाले (एक पाशम्) एक ही पाश से युक्त (त्रिमार्ग भेदम्) मार्ग के तीन भेदों वाले, तथा (द्विनिमित्तैकमोहम्) दो निमित्त और मोह-रूपी एक नाभिवाले [चक्र को] (अपश्यम्) उन्होंने देखा।

विशेष—ध्यान-योग का अनुष्ठान करके उन जिज्ञासु विचारकों नें समाधि की अवस्था में इस सृष्टि के स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त किया था, उसी का प्रतिपादन यहां ब्रह्म-चक्र के रूप में किया जा रहा है। ब्रह्म-चक्र का अर्थ है ब्रह्म का चक्र। यहां ब्रह्म चक्र का स्वामी है। यही इस समस्तपद—"ब्रह्मचक्र" का विशेष सौन्दर्य है "संसरचक्र" पद में यह सौन्दर्य नहीं है। यहां ब्रह्म का चक्र के साथ स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध है, न कि कार्य-कारण सम्बन्ध।

इस श्लोक के संकेतों का स्पष्टिकरण यह है—

(१) एक नेमि

एक प्रकृति ही इस ब्रह्म-चक्र की नेमि अर्थात् बाहिर की परिधि है। प्रत्येक पहिये की नेमि या परिधि एक ही होती है।

(२) तीन लपेटन वा घेरे

प्रत्येक पहिये पर लोहे का एक लपेटन उसकी दृढ़ता के लिये चढ़ाया जाता है। इस ब्रह्मचक्र पर सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के तीन लपेटन वा घेरे चढ़े हुए हैं।

(३) सोलह अन्त

इस ब्रह्म-चक्र के सोलह सिरे हैं। सिरे को ही अन्त भी कहते हैं। जब लकड़ी का कोई सामान्य पहिया बनाया जाता है, तब उसमें कुछ-कुछ कुबड़ी-कुबड़ी-सी विशेष प्रकार से निर्मित लकड़ियों को युक्तिपूर्वक जोड़कर एक गोल वृत्त बनाया जाता है। वह कुबड़ा-कुबड़ा-सा प्रत्येक काष्ठ-खण्ड अन्त कहलाता है, जिसका उपयोग पहिये का वृत्त बनाने में किया जाता है। अन्त को सिरा भी कहते हैं।

इस ब्रह्म-चक्र का निर्माण जिन सोलह अन्तों वा खण्डों को जोड़कर किया गया है, वे ही इसके सोलह अन्त हैं।

सोलह अन्तों का परिगणन आचार्यों ने कई प्रकार से किया है। ऐसा करने में विचार-प्रक्रिया का भेद ही प्रधान है।

क—एक पक्ष के अनुसार सोलह अन्त वे ही हैं जोकि प्रश्नोपनिषद् में सोलह कलाओं के रूप में दर्शाये गये हैं। यथा—

१. प्राण	७. पृथिवी	१३. मन्त्र
२. श्रद्धा	८. मन	१४. कर्म

३. आकाश	९. अन्न	१५. लोक
४. वायु	१०. वीर्य	१६. नाम
५. ज्योति	११. तप	
६. जल	१२. इन्द्रिय	

ख—दूसरे पक्ष के अनुसार सोलह अन्त ये हैं :—

पाँच महाभूत—पृथिवी, जल, तेज, वायु, और आकाश।

पांच कर्मेन्द्रियां—वाणी, हस्त, पाद, पायु और उपस्थ।

पांच ज्ञानेन्द्रियां—नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा।

ये सब पन्द्रह और सोलहवां मन।

ग—तीसरे पक्ष के अनुसार सोलह अन्त ये हैं :—

विराट्, सूत्रात्मा और चतुर्दश भुवन।

४ ब्रह्म-चक्र के पचास अरे

अरे पहिये की उन सुदृढ़ लकड़ियों को कहते हैं, जिनके साथ पहिये की परिधि को युक्तिपूर्वक पहिये के केन्द्रीय भाग अर्थात् नाभि के साथ जोड़ा जाता है। ब्रह्म-चक्र के पचास अरे कल्पित किये गये हैं। यथा—

पाँच सूक्ष्म-भूत।

पांच स्थूल-भूत।

पांच संशय अर्थात् आत्म-संशय, परमात्म-संशय, प्रकृति-संशय, प्रकृति-संशय, धर्म-संशय और अधर्म-संशय।

पांच क्लेश अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार ।

चार योनियां अर्थात् जरायुज, अण्डज, उद्भिज और स्वेदज ।

छः ऋतु अर्थात् बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर ।

बारह मास अर्थात् चैत्र, वैशाख ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ और फाल्गुण ।

तीन करण अर्थात् मन, वचन और शरीर ।

पांच विपर्य अर्थात् मिथ्या-ज्ञान के पांच भेद—तमस, मोह, महामोह, तामिस्त्र और अन्ध-तामिस्त्र ।

ये सब मिलकर पचास अरे कहलाते हैं ।

एक दूसरे प्रकार से भी पचास अरे गिने जाते हैं। इसके अनुसार बुद्धि के पचास प्रत्यय-भेद ही ब्रह्म-चक्र के पचास अरे हैं । उनकी गणना इस प्रकार है—

पांच विपर्य अर्थात् मिथ्या-ज्ञान के पांच भेद—तमस, मोह, महामोह, तामिस्त्र और अन्ध तामिस्त्र ।*

---

* पातंजलमतानुसार मिथ्या-ज्ञान का विचार ऐसा है :—

अविद्या—मिथ्या ज्ञान ।

अस्मिता—आत्मा और अन्तःकरण को ग्रन्थि ।

अट्ठाईस प्रकार की शक्तियां तथा अशक्तियां, नौ प्रकार की तुष्टियां और आठ प्रकार की सिद्धियां ये सब मिलकर ब्रह्म-चक्र के पचास अरे हैं।

इन सबका थोड़ा-सा विवरण अब देखें—

तमस

मन, बुद्धि, अहंकार और पांच तन्मात्र प्रकृति के इन आठ विकारों वा कार्यों में, जोकि जड़ हैं, आत्म-बुद्धि का होना, अर्थात् इनको चेतन आत्मा समझ लेना ही "तमस" है।

मोह

अणिमा आदि आठ प्रकार की योग-सिद्धि में आसक्त होना एवं उनके आधार पर दूसरों को ठगना वा आप ठगा जाना ही "मोह है।

वे अणिमा आदि आठ योग-सिद्धियां इस प्रकार हैं :—

(१) अणिमा—अपने शरीर को अणु के समान छोटा वा सूक्ष्म कर लेना।

(२) महिमा—अपने शरीर को बहुत बड़ा कर लेना।

(३) गरिमा—अपने शरीर को बहुत भारी कर

राग—अनुकूल भावना।

द्वेष—प्रतिकूल भावना।

अभिनिवेश—भय।

इनको ही पांच प्रकार के क्लेश भी कहते हैं।

लेना ।

(४) लघिमा—अपने शरीर को बहुत हल्का कर लेना ।

(५) प्राप्ति—कोई पदार्थ चाहे कितनी ही दूर हो, उसको छू सकना और प्राप्त करना ।

(६) प्राकाम्य—अपनी प्रत्येक इच्छा का पूर्ण करना ।

(७) ईशित्व—अपने शरीर और अन्तःकरण को अपने वश में कर लेना । सब प्रकार के भौतिक ऐश्वर्यों को प्राप्त करने में समर्थ होना और सब किसी पर शासन करना । सबसे अपने आदेशों का पालन करवाना ।

(८) वशित्व—प्राणिमात्र को इस प्रकार से अपने वश में कर लेना कि कोई भी अपने किसी आदेश का उल्लंघन न कर सके ।

इन आठ सिद्धियों की आठ अशक्तियां भी होती हैं ।

महा मोह

दस इन्द्रियों के दस विषयों में आसक्त होना, मरणोपरान्त या इसी जीवन में भोगों की अत्यन्त कामना करना, धर्माधर्म का विचार छोड़कर रात-दिन भोगों में और भोग्य-पदार्थों के संचय में ही संलग्न रहना ।

तामिस्र

भोगों के उपभोग में किसी बाधा के उपस्थित होने पर क्रोध करना, अथवा भोग्य-पदार्थों की प्राप्ति में असमर्थ

होने पर क्रोध करना। दस इन्द्रियों और आठ सिद्धियों से सम्बन्धित होने के कारण यह तामिस्र अट्ठारह प्रकार का होता है।

अन्ध-तामिस्र

ऊपर लिखे अट्ठारह प्रकार के भोगों के न मिलने पर, अथवा किसी कारणवश उन भोगों को न भोग सकने पर, अथवा कुछ थोड़ा-सा ही भोग सकने पर—पूर्णतया न भोग सकने पर—भोगों से पूर्णतया तृप्त न होने पर, रोना, कल्पना, पछताना और मरण समय में नाना प्रकार के पछतावों एव सन्तापों के साथ देह को छोड़ना। उक्त भोगों के साथ सम्बन्ध यह अन्ध-तामिस्र भी अट्ठारह प्रकार का है।

तमस के भेद आठ, मोह के भेद आठ महामोह के भेद दस, तामिस्र के भेद अट्ठारह और अन्ध तामिस्र के भेद अट्ठारह। ये सब मिलकर मिथ्या-ज्ञान या विपर्य के बासठ भेद होते हैं।

अट्ठाईस प्रकार की शक्तियां और अशक्तियां

मन सहित ग्यारह प्रकार की इन्द्रियां, उनके ग्यारह विषय, उनकी ग्यारह प्रकार की शक्तियां और ग्यारह प्रकार की ही अशक्तियां, नौ प्रकार की तुष्टियां और आठ प्रकार की सिद्धियां—ये सब मिलकर अट्ठाईस होती हैं। इन्द्रियों के विषय और उनकी शक्तियों—को पृथक् नहीं गिना जाता। उनका विचार इन्द्रियों के ही अन्तर्गत हो जाता है।

इन्द्रियां—श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, नासिका, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ, गुदा, और मन।

इन्द्रियों के विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वचन, आदान वा ग्रहण, गमनागमन, रति, एवं मूत्र त्याग, मल-विसर्जन और संकल्प-विकल्प।

इन्द्रियों की शक्तियां—श्रवण-शक्ति, स्पर्शशक्ति, दर्शन-शक्ति, रसना-शक्ति, घ्राण-शक्ति, वाक् शक्ति, ग्रहण-शक्ति, गमन-शक्ति, भोग-शक्ति एवं मूत्र-त्याग-शक्ति, मल-त्याग-शक्ति और मनन-शक्ति।

इन्द्रियों की अशक्तियां—ऊपर लिखी सभी शक्तियों का अभाव अर्थात् बधिरत्व, कुष्टपाण्डुपन वा सुन्न रोग, अन्धत्व, स्वाद न जानना, गन्ध न जानना, गूंगापन, बाहुबल का अभाव, लंगड़ापन अथवा गमनागमन की असमर्थता, नपुंसकता अथवा मूत्र-त्याग की असर्थता, मल-त्याग की असमर्थता, थोड़ा या अधिक पागलपन—उन्माद या चित्त का अव्यवस्थित होना।

नौ प्रकार की तुष्टियां

(१) प्रकृति और प्रकृति-जन्य पदार्थों का ज्ञान होने पर, अपने आपको तत्त्वज्ञानी और कृतार्थ मानकर, अथवा संसार को असार और दुःखों का भण्डार जानकर विरक्त वा सन्तुष्ट होना।

२ गंगा-स्नान, तीर्थ-यात्रा, मन्दिर-यात्रा, [हज-यात्रा वा स्थान विशेष की यात्रा] संन्यास आश्रम में प्रवेश, विशेष प्रकार के वेश या परिधान, वा कण्ठी, माला, तिलक, छाप, जटा, लटा आदि के अवधारण से पुण्यात्मा बनने का अन्ध-विश्वास और मोक्ष प्राप्ति का मिथ्या विश्वास करके सन्तुष्ट हो जाना, निष्क्रिय होना, पुरुषार्थ को छोड़ना, सत्याचरण और ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना आदि आवश्यक कार्यों को न करना अथवा विधिपूर्वक न करना।

(३) प्रारब्ध पर निर्भर होना। यह समझना कि जो कुछ भाग्य में होगा, वही मिलेगा और कुछ होना है, वही होगा। जो कुछ दुःख वा सुख मिलना है, वह अवश्य इस प्रकार आलसी, प्रमादी और पुरुषार्थ शून्य होना।

(४) काल के भरोसे पर सन्तुष्ट रहना। यह मान लेना कि जो कार्य जब होना है, वह तभी होगा अर्थात् अपने नियत समय पर ही होगा। किसी काल विशेष को ही किसी विशेष कार्य की सफलता या विफलता का मुख्य कारण समझना।

(५) विषयों के उपभोग अथवा भोग्य-पदार्थों की प्राप्ति में असमर्थ होना और फिर भी सन्तुष्ट रहना।

(६) धनोपार्जन में नाना प्रकार के झंझटों को देख कर, धन न कमाना, विषय-भोगों की प्राप्ति के साधन न

जुटाना, उत्तरोत्तर उच्चतर सफलताओं की प्राप्ति न करना ।

(७) एक से एक बढ़-चढ़कर भोग्य-पदार्थों और उन पदार्थों से युक्त लोगों को देखकर अपनी असमर्थता और साधन-शून्यता के कारण यह सोच लेना कि विषय-भोगों का तो कोई अन्त ही नहीं है, फिर उनकी प्राप्ति से क्या लाभ ? प्रयत्न करने पर भी यदि सफलता न मिली, तब भी तो शान्त होना ही पड़ेगा, अतः किसी वस्तु, पद या योग्यता की प्राप्ति के लिये प्रयत्न ही क्यों करें ?

(८) जैसे अग्नि में आहुति देने से अग्नि प्रचण्ड हो जाती है, वैसे ही विषय-भोगों के उपभोग से भोग-कामना भी अधिकाधिक बढ़ती और उग्ररूप धारण कर लेती है । यह समझकर भोगों और भोग्य-पदार्थों से विमुख होना ।

(९) विषयों के उपभोग और भोग्य-पदार्थों के संचय से नाना प्रकार के ईर्ष्या-द्वेष और झंझट उत्पन्न हो जाते हैं । विषय-भोगों के संरक्षण में नाना प्रकार के क्लेश भी होते हैं । यह विचार करके उपराम होना ।

ये नौ प्रकार की तुष्टियां ही संसार में आलस्य और प्रमाद की वृद्धि करने वाली हैं । अतः इन से संसार की हानि ही होती है । पुरुषार्थ पूर्वक अपने और दूसरों के सुखों की वृद्धि करना ही सच्ची मनुष्यता है । पुरुषार्थ करना मनुष्य का धर्म है । संसार के सुख-समुदाय का

संवर्धन करना और दुःख समुदाय को घटाना ही मानवता का मुख्य उद्देश्य है।

उक्त नौ प्रकार की तुष्टियों की दो-दो प्रकार की शक्तियां मानी जाती हैं। यथा—

(१) पदार्थ के न होने पर भी सन्तुष्ट रहना।

(२) पदार्थ के होने पर भी उसका उपभोग न करना और सन्तुष्ट रहना।

इन में से प्रथम को अनिच्छा, अनुत्कण्ठा या अस्पृहा कहते हैं। दूसरी को त्याग कहते हैं।

नौ प्रकार की तुष्टियों की नौ प्रकार ही की अशक्तियां हैं।

वैदिक-साहित्य और आर्यशास्त्रों में कर्त्तव्य और कर्त्तव्य का एवं पुण्य और पाप का, जो सूक्ष्म विचार किया गया है, सभी साधकों, उपासकों और श्रेष्ठ नागरिकों को उसका परिज्ञान प्राप्त करना चाहिये और उसका अनुपालन भी अवश्य ही करना चाहिये। किसी प्रकार की भ्रान्ति में पड़कर, सच्चे पुरुषार्थ को छीना-झपटी या भ्रष्टाचार समझने की भूल कोई न करे। इसी प्रकार छीना-झपटी, भ्रष्टाचार, कपट-लीला और पर स्वत्वापहरण को पुरुषार्थ समझने की भूल भी कोई न करे। पाप और पुण्य की सीमा-रेखा कहां है? इस जटिल-प्रश्न का समाधान सभी-साधकों को अपने-अपने अन्तरात्मा के ही अनुशासन से प्राप्त कर लेना चाहिये।

योग-जन्य अणिमा आदि सिद्धियों का उल्लेख पहले हो चुका है। कतिपय आचार्य उनसे भिन्न आठ सिद्धियां कथन करते हैं। वे इस प्रकार—

(१) जन्म-सिद्धि—पूर्वजन्म के संस्कारों की प्रबलता से प्रकृति आदि पदार्थों के सम्यक्-ज्ञान का सहज में ही होना।

(२) शब्द-ज्ञान-सिद्धि—विशेष शब्दाभ्यास के विना ही पशु-पक्षी आदि प्राणियों की वाणी को समझना। इस सिद्धि को "सर्वभूत-शब्द-ज्ञान" भी कहते हैं। यह भी पूर्वजन्म के संस्कारों की प्रबलता से ही होती है।

(३) शास्त्र-ज्ञान-सिद्धि—पूर्वजन्म के संस्कारों की प्रबलता से, विना विशेष अभ्यास के हो, वेदों और अन्य शास्त्रों आदि के रहस्यों का समझना। कठिनतम विद्याओं को भी अनायास ही जानना।

(४) आधिभौतिक ताप-सहन-शक्ति।

(५) आध्यात्मिक ताप-सहन-शक्ति।

(६) आधिदैविक ताप-सहन-शक्ति।

(७) विज्ञान-सिद्धि—शुद्ध अन्तःकरण वाले मित्रों और गुरुजनों के उपदेशों को शीघ्र ही समझ लेना। मोक्ष-प्राप्ति के उपायों को समझना और उनके अनुष्ठान में शीघ्र ही सफल होना।

(८) अपने पुरुषार्थ और विद्या-बल से अपने मित्रों

और गुरुजनों के आदेशों का परिपालन, कठिनतर कार्यों का सम्पादन और अभीष्ट अनुकूलताओं का आयोजन।

इस प्रकार ब्रह्म-चक्र के जो पचास अरे होते हैं, यह उनका विचार है। गणना इस प्रकार है :—

(१) अविद्या—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ५

(२) तुष्टियां ९

(३) अणिमा आदि सिद्धियां ... ८

(४) इन्द्रियां और उनकी शक्तियां ... ११

(५) तुष्टियों की नौ और सिद्धियों की आठ अशक्तियां १७

सर्वयोग ५०

एक अन्य प्रकार से भी पचास अरे गिने जाते हैं :—

(१) अविद्या—तमस, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्ध तामिस्र ५

(२) इन्द्रियों के विषय-भोगों की शक्तियां १०

(३) तुष्टियां ९

(४) जन्म-सिद्धियां ८

(५) तुष्टियों से सम्बन्धित दो-दो प्रकार की शक्तियां—अनिच्छा और त्याग ... १८

सर्वयोग ५०

५—ब्रह्म-चक्र के बीस उप अरे

किसी साधारण पहिये में मुख्य अरों की सहायता के लिये, जो पच्चरें लगाई जाती हैं, उनको ही यहां उप अरे कहा गया है। इनका विचार ऐसा है :—

क—पांच ज्ञानेन्द्रियां

ख—पांच कर्मेन्द्रियां

ग—पांच तन्मात्र अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रियों के पांच विषय—रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श।

घ—पांच कर्मेन्द्रियों के पांच कर्म—वचन, आदान, विचरण, आनन्द और उत्सर्ग।

६—ब्रह्म-चक्र के छः अष्टक

किसी साधारण पहिये में कीलों से जो काम लिया जाता है, वही काम और स्थान ब्रह्म-चक्र में इन अष्टकों का है। अष्टकों की गणना तो छः से अधिक है। विद्वान् अपनी रुचि के अनुसार कोई से छः अष्टक गिन लेते हैं। छः अष्टक ये हैं :—

(१) प्रकृति-अष्टक—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार।

(२) धातु-अष्टक—त्वचा, चर्म, मांस, रुधिर, मेद, [चर्बी] अस्थि, मज्जा और वीर्य [शुक्र]।

(३) सिद्धि-अष्टक या ऐश्वर्य-अष्टक—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व और वशित्व।

एक दूसरा सिद्धि-अष्टक इस प्रकार है—

पर-काया-प्रवेश, जल पर चलना वा जल में असंग रूप से रहना, उपक्रान्ति, प्रज्वलन, दिव्य-श्रवण, आकाश-गमन, प्रकाशावरणक्षय और भूत-जय।

(४) मदाष्टक—तन-मद, जन-मद, धन-मद, बल-मद, ज्ञान-मद, बुद्धि-मद, कुल-मद और जाति-मद।

कोई-कोई आचार्य मदाष्टक के स्थान पर "भावाष्टक" की गणना कर लेते हैं। वह यह है—

धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य।

(५) अशुभाष्टक—अशुभ को सोचना, अशुभ को सुनना, अशुभ को देखना, अशुभ को बोलना, अशुभ का स्पर्श करना, अशुभ कर्म को कराना, और अशुभ कर्म को करना।

(६) धर्माष्टक—नित्य-धर्म, निमित्त-धर्म, देश-धर्म, काल-धर्म, जाति धर्म, आपद्धर्म और अपवाद धर्म।

दो अष्टक और भी प्रसिद्ध हैं। यथा—

देवाष्टक—अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा, पृथिवी और नक्षत्र।

इसे "आठ—वसु" भी कहते हैं। इस विषय में महर्षि दयानन्द सरस्वती का यह लेख विशेष रूप से मनन करने योग्य है :—

इस वसु—विचार में "सत्यार्थ-प्रकाश के आठवें समुल्लास का यह सन्दर्भ विशेष रूप से मनन करने योग्य है :—

"प्रश्न—सूर्य, चन्द्र, और तारे क्या वस्तु हैं और उनमें मनुष्यादि सृष्टि है, वा नहीं ?

उत्तर—वे सब भूगोल, लोक और इनमें मनुष्यादि प्रजा भी रहती है, क्योंकि—

एतेषु हीद ँ सर्वं वसुहितमेते हीद ँ सर्वं वासयन्ते तद्यदिद ँ सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति ॥

[शत० कां० १४।६। ब्रा. ७।कं० ५]

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, नक्षत्र और सूर्य इनका वसु नाम इसलिए है, कि इन्हीं में सब पदार्थ और प्रजा वसती है। और ये ही सबको बसाते हैं। जिस लिए वास के, निवास करने के घर हैं, इसलिए इनका नाम वसु है। जब पृथिवी के समान सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र वसु हैं, पश्चात उनमें इसी प्रकार प्रजा के होने में क्या सन्देह है ?"

आगे फिर उल्लेख है :—

"और जैसे परमेश्वर का यह छोटा-सा लोक मनुष्यादि सृष्टि से भरा हुआ है तो क्या वह सब लोक शून्य होंगे ? परमेश्वर का कोई भी काम निष्प्रयोजन नहीं होता, तो क्या इतने असंख्य लोकों में मनुष्यादि सृष्टि न हो तो सफल कभी हो सकता है ? इसलिए सर्वत्र मनुष्यादि सृष्टि है ।

आगे यह महत्वपूर्ण स्थापना भी की गई है—

"प्रश्न—जैसे इस देश में मनुष्यादि की आकृति अवयव हैं, वैसे ही अन्य लोकों में भी होंगे, वा विपरीत ?

उत्तर—कुछ-आकृति में भेद होने का सम्भव है ।

जैसे इस देश में चीनी, हब्शी और आर्य्यवर्त यूरोप में अवयव और रंग रूप और आकृति का भी थोड़ा-थोड़ा भेद होता है, इसी प्रकार लोक-लोकान्तरों में भी भेद होते हैं। परन्तु जिस जाति की जैसी सृष्टि इस देश में है, वैसी जाति की सृष्टि अन्य लोकों में भी है। जिस-जिस शरीर के प्रदेश में नेत्रादि अंग हैं, उसी जाति के अवयव भी वैसे ही होते हैं।"

और भी एक बड़ी बात यहां लिखते हैं —

प्रश्न—जिन वेदों का इस लोक में प्रकाश है, उन्हीं का उन लोकों में प्रकाश है, वा नहीं ?

उत्तर—उन्हीं का है। जैसे एक राजा की राज्य-व्यवस्था, नीति सब देशों में समान होती है, उसी प्रकार परमात्मा राजराजेश्वर की वेदोक्त नीति अपने-अपने सृष्टि रूप सब राज्य में एक सी है"।

[सत्यार्थ-प्रकाश, आठवां समुल्लास]

अणुविज्ञान और चन्द्र-यात्रा के वर्तमान युग में महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा आज से एक सौ वर्ष पूर्व प्रकाशित उपरि-उद्धृत लेखों का विशेष विचार होना चाहिए। अब पृथिवी के मानव ने आर्य ग्रहों और उपग्रहों पर भी अपनी कमन्दें डालनी शुरू कर दी हैं।

गुणाष्टक—क्षमा, दया, अनुसुया, शौच- अनायास, मंगल, अकृपणता और अस्पृ ा।

ऐसे-ऐसे और भी कई अष्टक कल्पित किए जा सकते हैं। "अष्टक" का अर्थ यहां पर आठ का समुच्चय ही है। मूल श्लोक में उपनिषद्कार ने "छः अष्टक" ही लिखते हैं। कौन-कौन से अष्टक ? यह नहीं बताया।

अत : इस विषय में कई गणना-भेद हो गए हैं।

(७) नाना प्रकार के रूपों वाली एक फांस

ब्रह्म-चक्र की एक फांस कामना ही है, जोकि नाना प्रकार के रूपों में प्रकट होती है। "कामना" के अर्थ में ही "इच्छा, तृष्णा, लालसा, अभिलाषा, वासना" आदि

और भी कई शब्द-व्यवहार देखने में आते हैं। इस कामना-जाल में आबद्ध होकर ही सब प्राणी इस ब्रह्म-चक्र में नाना प्रकार की गतियां कर रहे हैं।

(८) तीन प्रकार का मार्ग-भेद

इस ब्रह्म-चक्रके तीन मार्ग-भेद हैं। भिन्न विचारकों ने ये मार्ग-भेद कई प्रकार से कल्पित किए हैं। यथा—

क—धर्म, अधर्म, और अज्ञान।

ख—धर्म, अर्थ और काम।

ग—उत्पत्ति, स्थिति, और प्रलय।

घ—सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण।

(९) दो निमित्त

पुण्य और पाप ही ब्रह्म-चक्र के दो निमित्त हैं।

(१०) एक मोह

भ्रान्ति ही एक ऐसा तत्त्व है, जो इस ब्रह्म-चक्र में चिकनाई का काम करता है और इस चक्र की गति को निरन्तर बढ़ाता रहता है।

मोह अथवा भ्रान्ति का तात्पर्य यहां पर अविद्या या मिथ्या-ज्ञान ही है, जिसके वशीभूत होकर, इन्द्रियों मन, और बुद्धि इन पदार्थों को भी जीवात्मा मान लिया जाता है। पुण्य और पाप जो दो निमित्त कथन किए गए हैं। वे इस भ्रान्ति या मोह के ही निमित्त हैं।

६—नदी के रूप में शरीर का निरूपण

चौथे श्लोक में इस नाम-रूप-मय जगत् का दिग्दर्शन

ब्रह्म-चक्र के रूप में कराने के बाद अब नदी के रूप में मानव-देह का निरूपण करते हैं:—

पंचस्त्रोतोऽम्बुं पंचयोन्युग्रवक्रां,
पंच प्राणोर्मि पंच बुद्धयादि मूलम् ।
पंचावर्तां पंच दु:खौघ-वेगाम्,
पंचाशद्भेदां पंचपर्वामधीमः ॥५॥

शब्दार्थ:—(पचस्त्रोतोऽम्बुम्) जिसमें पांच स्त्रोतों की जल-धारायें आकर गिरतो और बहती हैं, (पंचयोनि) जिसके पांच उद्गमस्थान हैं और जो (उग्र-वक्राम्) बहुत अधिक उग्र एवं टेढ़ी-मेढ़ी है, (पंचप्राणोर्मिम्) जिस में पांच प्राण—प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान तरंगों के समान हैं, जो (बुद्धि-आदि-पंचमूलाम्) बुद्धि आदि भेद से पांच प्रकार के ज्ञान मूल वाली है, जो (पंचावंताम्) पांच आवर्तों=भवरों वाली है, जो (पंच-दु:ख-औघ-वेगाम्) पांच प्रकार के दु:खों के आवेग वाली है, [जिसमें पांच प्रकार के दु:खों के आवेग आते रहते हैं और इसीलिये समय-समय पर जिसका वेग तीव्रतर हो जाता है] जो (पंचाशद् भेदाम्) पचासों प्रकार भेद-प्रभेद हैं, जो (पंचपर्वाम्) पांच पर्वों वाली है, उस नदी को (अधीमः) हम जानते हैं।

विशेष—इस श्लोक की शब्द-योजना से स्पष्ट होता है कि यह मानव-शरीर और उसकी प्रगतियों का ही सांकेतिक वा आलंकारिक विवरण है। पहले जिस प्रकार

ब्रह्माण्ड का आलंकारिक निरूपण किया गया था, अब उसी प्रकार यह पिण्ड का भी प्रतिपादन किया गया है। यह उचित भी है, स्वाभाविक भी। ब्रह्माण्ड-बोध के लिये, पिण्ड-बोध, का होना भी आवश्यक है। ब्रह्माण्ड-बोध में यह पिण्ड-बोध विशेष रूप से सहायक है।

जो कुछ बड़े रूप में ब्रह्माण्ड में है, वही सब कुछ छोटे रूप में शरीर में भी है। यह मानव-शरीर ब्रह्माण्ड का नकशा ही तो है। प्राकृतिक सम्मिश्रण का सर्वश्रेष्ठ विकार वा चमत्कार यह मानव-शरीर ही है। यह विशेष उपयोगी भी है, संरक्षणीय भी। यह भोग का साधन भी है, मोक्ष का उपकरण भी। क्योंकि "भोगयरत्नं शरीरम्" और "भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।"

इस शरीर रूपी नदी में पांच ज्ञानेन्द्रियां ही वे श्रोत हैं, जो कि इसमें ज्ञान रूपी जल के प्रवाह प्रवाहित करते रहते हैं। नदियां पहाड़ों से निकलती हैं। वे ऊँचे-नीचे विषय स्थलों में से होकर बहती और आगे बढ़ती हैं। इसीलिये वे कुछ अधिक वेगवती भी बन जाती हैं और टेढ़ी-मेढ़ी भी हो जाती हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियों के पांच उद्गम स्थान पांच महाभूत ही हैं। पांच महाभूतों में जो पारस्परिक विभेद या विषमता है, उसी के कारण मानव-देह में भी विभिन्न प्रकार की विषमताओं का विकास हो जाता है।

इस शरीर रूपी नदी में पाँच प्राण ही तरंगों के समान हैं। इस शरीर रूपी नदी का आदि-मूल पंच-बुद्धि कहलाता है अर्थात् पांच प्रकार के ज्ञान वाला। यह किस लिये? इस लिये कि कोई रूप को चाहता है, कोई रस को, कोई स्पर्श को, कोई शब्द को और कोई गन्ध को। विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों की रुचि विभिन्न प्रकार के विषयों में होती है। इसके साथ ही देश-काल-भेद से एक ही व्यक्ति की आसक्ति भिन्न-भिन्न विषयों में भी देखने में आती है। एक ही व्यक्ति कभी रूप को चाहता है, कभी रस को, कभी स्पर्श को, कभी शब्द को, और कभी गन्ध को। पंच बुद्धि का मर्म यही है।

पांच विषय अर्थात् रूप, रस, स्पर्श, शब्द और गन्ध ही इस शरीर रूपी नदी में भंवरों वा आवर्तों के समान हैं। जब कोई शरीरी इन आवर्तों में फँस जाता है, तब उस का निस्तारा बहुत कठिनाई से ही हो पाता है। जैसे पूर के आने पर नदी का प्रवाह और विस्तार बहुत अधिक बढ़ जाता है, वैसे ही इस शरीर रूपी नदी में भी गर्भ-स्थिति, जन्म, बुढ़ापा, व्याधि और मृत्यु रूपी पूर आया करते हैं, तब इस का प्रवाह भी नई-नई भूमियों में फैलने और दौड़ने लगता है।

ये पांच प्रकार के दुःखावेग अर्थात् गर्भ-स्थिति, जन्म, बुढ़ापा, व्यधि और मरण ही इस शरीर रूपी नदी में पूर

अथवा आवेग हैं। जल में तैरने के ढंग कई प्रकार के होते हैं। नदियों को पार करने के साधन भी कई प्रकार के होते हैं। वैसे ही इस शरीर रूपी नदी से संतरण के विधान और साधन भी कई प्रकार के हैं। किसी भी एक विधान को जानकर, साधन को अपनाकर-साधना करके, साधक जन इस शारीरिक भव-सागर को पार कर सकते हैं। जहाँ चाह, वहां राह। भव सागर को पार करना कुछ कठिन तो है ही; परन्तु असम्भव नहीं।

नदियों में आवश्यकतानुसार कुछ बान्ध भी बना लिये जाते हैं। उनके जो मुख्य खण्ड होते हैं, वे ही पर्व कहलाते हैं। नदियों की कुछ छोटी या बड़ी शाखायें भी पर्व स्वरूपा ही होती हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ही इस शरीर रूपी नदी में बान्ध, पर्व या शाखा समान हैं।

नदियां प्रवाहमयी होती हैं। वे चलती ही रहती हैं, दौड़ती ही रहती हैं, बहती ही रहती हैं। यह शरीर रूपी नदी भी चलती ही रहती है। अपनी विचित्र गतियों और अगतियों के द्वारा यह भी निरन्तर आगे ही आगे बढ़ती है। नये-नये परमाणु-प्रवाह आ-आकर इसमें मिलते या जुड़ते रहते हैं। इसी प्रकार असंख्य परमाणु-प्रवाह इससे छिटकते वा विलग भी होते रहते हैं। अन्ततोगत्वा यह पार्थिव-शरीर अपने कारण में लीन हो जाता है। वैसे ही जैसे कि नदियां जाकर सागर में समा जाती हैं। कार्य और

कारण का यह प्रवाह, उदय और अस्त का यह चक्कर, अथवा निर्गमन और विलय का यह अनुक्रम अनादि-काल से इसी रूप में चलता चला आ रहा है। आगे ही आगे बढ़ता चला जा रहा है।

मिल गईं मिट्टी में कैसी, प्यारी-प्यारी सूरतें।
खाक के पेयोंद कैसे-कैसे गुल-बूटे हुए॥
फिर रही है अब तलक नजरों में शक्लें आशियां।
मद्दतें गुजरीं चमन पर बिजलियां टूटे हुए॥

एवमेव—

जहां था जमशेदी दरबार,
शान से होता था मधु-पान।
वहां स्वच्छन्द घूमते सिंह,
वहां स्वच्छन्द घूमते श्वान॥

तथाच—

हम नशों यह नफस का साजेगरा कुछ भी नहीं।
तू कहां फितने जगाता है ? यहां कुछ भी नहीं॥
कह रहा है आसमां कि यह समय कुछ भी नहीं।
फूंक दूंगा एक गर्दिश में जहां कुछ भी नहीं॥
जिनके महलों में हजारों रंग के फानूस थे।
झाड़ उन की कब्र पर हैं, और निशां कुछ भी नहीं।
तखतवालों का पता देते हैं पत्थर गोर के।
बे खबर हैं खाक में अब हूं औ हां कुछ भी नहीं।

और भी—

आदमी का जिस्म क्या है ? जिस पै नाजाँ है जहाँ ।
एक छोटी-सी इमारत, एक टूटा-सा मकां ॥
खून का गारा है इसमें और ईंटें हड्डियां ।
चन्द साँसों पर खड़ा है, यह ख्याली आसमां ॥
मौत को पुरजोर आन्धी, इससे जब टकरायेगी ।
देख लेना यह इमारत टूटकर गिर जायेगी ॥

७—मुक्ति का मार्ग

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते,
अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्म-चक्रे ।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा,
जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥६॥

शब्दार्थ—(सर्वाजीवे) सब को जीवन प्रदान करने वाले (सर्वसंस्थे) जिसमें जड़ और जंगम एवं स्थूल और सूक्ष्म सभी पदार्थ अवस्थित हैं, उस (बृहन्ते) बहुत बड़े (अस्मिन् ब्रह्म-चक्रे) इस ब्रह्म-चक्र में (हंसः) यह जीवात्मा रूपी हंस (भ्राम्यते) घुमाया जा रहा है ।

विशेष—जन्म-मरण और पुनर्जन्म का प्रवाह सनातन काल से हो जीवात्माओं को आन्दोलित करता हुआ चला आ रहा है इस जन्म-मरण की परम्परा से छूटने का उपाय क्या है ? बताते हैं:—

शब्दार्थ—(आत्मानन्) अपने आप को (च) और

(प्रेरितारम्) इस ब्रह्म-चक्र के प्रेरक और सृष्टि के चेतन एवं स्वतन्त्र निमित्त कारण परम पिता परमेश्वर को (पृथक्-पृथक्) (मत्वा) मानकर. मनन के द्वारा जानकर (जुष्टः) उस परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करने वाला जीवात्मा, प्रभु का प्रेमी उपासक (ततः) तब, फिर, आत्म-दर्शन और प्रभु-दर्शन की सिद्धि प्राप्त करने के पश्चात् (तेन) उस अपनी साधन-शीलता के प्रभाव से, तथा अपने आराध्यदेव की कृपा से (अमृतत्वम्) अमृत को, मोक्ष को, चिरस्थायी आनन्द को (एति) प्राप्त करता है।

विशेष—सृष्टि-रचना के प्रधान-कारण अर्थात् कारण ब्रह्म की जिज्ञासा के साथ इस योग-सिद्धान्त और उपासना प्रधान उपनिषद् का आरम्भ हुआ है। उपासकों के परि-ज्ञान और समाधान के लिये संक्षेप में ब्रह्म-चक्र की उपमा देकर ब्रह्माण्ड का और नदी की उपमा देकर मानव-शरीर का प्रतिपादन करने के पश्चात् अब प्रस्तुत श्लोक में बन्ध और मोक्ष का हेतु भी उपनिषद्कार ने दर्शा दिया है।

बन्ध का हेतु है—अपने स्वरूप को विस्मृत कर देना। जीवात्मा और शरीर को एक मानना, या शरीर को ही जीवात्मा मानना, अथवा मन, बुद्धि और अहंकार को ही आत्मा मानना, या जीवात्मा और शरीर को पृथक्-पृथक् न मानकर एक ही समझ लेना और जगत् के धाता-विधाता ईश्वर को भूल जाना, उससे विमुख होना।

मोक्ष का हेतु है—अपने स्वरूप में स्थिति, जड़-शरीर को जड़ समझना और इसे अपने चेतन जीवात्मा का घर समझना। जीवात्मा और शरीर को भली प्रकार से पृथक्-पृथक् जान लेना, सर्वांग पूर्ण निर्मलता को प्राप्त करना, कुसंस्कारों को हटाना, ईश्वर के प्रति परम प्रेम को धारण करना, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना के द्वारा मोक्ष के अधिकार और ईश्वरीय कृपा की पात्रता को प्राप्त करना।

यद्यपि आचार्य के उपदेश और वेदादि ग्रन्थों के पठन-पाठन से भी शरीर की जड़ता, जीवात्मा और शरीर की पृथकता, ईश्वर की जोवात्मा से भिन्नता, जीव की अल्पज्ञता और एक देशीयता, ईश्वर की सर्वज्ञता और सर्व व्यापकता, जीवात्मा और ईश्वर के व्याप्यव्यापक, सेव्य-सेवक, स्वामी भृत्य, राजा-प्रजा, उपास्य-उपासक और पिता-पुत्र आदि सम्बन्धों और ईश्वर की परम आनन्दमयी सर्वोपरि सत्ता का बोध प्राप्त हो जाता है, परन्तु मोक्ष-प्राप्ति और अनन्त आनन्दोपभोग के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है। यथार्थ होनें पर भी यह पूर्ण बोध नहीं है।

इसे तो साधना आरम्भ करनें के लिये कुछ थोड़ा-सा दिग्दर्शन मात्र ही समझना चाहिये। पूर्ण और यथार्थ बोध तो दीर्घ-काल तक, निरन्तर, नियम पूर्वक साधना करने वाले, योग-समाधि-द्वारा आत्म-दर्शन, प्रकृति - दर्शन,

तन्मात्राओं के वशीकरण और ईश्वर-दर्शन की अपरोक्ष-अनुभूति प्राप्त करने वाले ईश्वर के परम प्रेमी भक्तों को ही प्राप्य होगा।

सन्त कबीर ने किसी तथाकथित पण्डित को फटकारा था:—

तू कहता पुस्तक की लेखी।
मैं कहता हूं आँखों-देखी ॥

आत्म-दर्शन, प्रकृति-दर्शन और प्रभु-दर्शन में आँखें जीवात्मा की दिव्यतर दर्शन-शक्तियाँ ही होती हैं, चर्म-चक्षु नहीं। गीता के अर्जुन को भी ईश्वर के विराट्-रूप दर्शन-प्रसंग में पहले तो दिव्य-नेत्रों की प्राप्ति ही हुई थी।

साधकों को योगारूढ़ होकर अपनी साधना का कोई घमण्ड नहीं करना चाहिए। छोटी-बड़ी सभी सफलताओं के लिये प्रभु की कृपा का होना भी परमावश्यक है। निष्पापता, निश्छलता, पूर्णनिर्मलता और सतत जागरूकता के आधार पर ही प्रभु की कृपा को प्राप्त किया जा सकता है। जो पुरुषार्थ साधक करता है, वह भी तो प्रभु-प्रदत्त साधनों और शक्तियों के आधार पर ही होता है। जहां पूर्ण पुरुषार्थ करने के उपरान्त साधकों की असमर्थता आरम्भ होती है, वहाँ से ही प्रभु की कृपा शुरू हो जाती है और साधक का अपना अनुभवी अन्तरात्मा ही उस का पथ-प्रदर्शक बन जाता है।

जब मैं था तब हरि नहीं, जब हरि हैं मैं नाहीं ।
प्रेम-गली अति सांकरी, या में दो न समाहीं ॥
हँस-हँस कन्त न पाइया, जिन पाया तिन रोय ।
हांसी-खेले पिउ मिले, कौन दुहागन होय ॥

भेद में अभेद के ये कथन सन्तों ने प्रेम की प्रगाढ़ता और भक्तिवाद की तल्लीनता को दर्शाने के लिये ही किये हैं ।

मध्य-युग के आचार्यों ने ईश्वर को अनुमान का विषय बनाकर भारी भ्रान्ति फैलाई थी । प्राचीन आचार्यों नें तो ईश्वर को भी प्रत्यक्ष का ही विषय माना है । अनुमान तो प्रत्यक्ष के अनुसार ही होता है । अनुमान से कुछ-कुछ का बोध होता है ! प्रत्येक से सब कुछ का यथार्थ और पूर्ण बोध होता है । महर्षि दयानन्द नें ईश्वर-प्रत्यक्षवाद को पुनरपि प्रचलित कर दिया है ।

तैत्तिरीयोपनिषद् के प्रथम अनुवाक में पाठ है :—

नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं
ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ।
ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि ।
तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु,
माम् । अवतुवक्तारम् ॥

ब्रह्म को मेरा नमस्कार । हे वायु ! नमस्ते । तू ही तो प्रत्यक्ष ब्रह्म है । मैं तो तुझको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा ।

मैं ऋत ही बोलूंगा। मैं सत्य ही बोलूंगा। तू मेरी रक्षा कर। तू सत्योपदेशक की रक्षा कर। तू मेरी रक्षा कर। ब्रह्म, ऋत और सत्य के उपदेशक की रक्षा कर।

अपने "सत्यार्थ-प्रकाश" के आरम्भ में ही महर्षि दयानन्द ने यह पाठ उद्धृत किया है। उन्होंने इसे "सत्यार्थ-प्रकाश" के अन्त में दोहराया भी है।

ईश्वर-प्रत्यक्ष चाक्षुश-प्रत्यक्ष नहीं। प्रकाश के अभाव, अल्प-प्रकाश, कुसंस्कार और रोगवश चाक्षुश प्रत्यक्ष का सदोष होना भी सभाव है। ईश्वर-प्रत्यक्ष के लिये दिव्य-दर्शन-शक्ति=दिव्य-दृष्टि की नितान्त आवश्यकता है। इस दिव्य-दर्शन-शक्ति के विकास और अधिग्रहण की युक्ति बतलाने के लिये ही दयालु उपनिषद्कार ने इस उपनिषद् का अनुबन्ध रचा है। ब्रह्मचक्र में परिभ्रमण करने वाले यह मार्ग-दर्शन निस्सन्देह एक बड़ी साहयता है।

८ — परम-ब्रह्म का गीत

उद्गातमेतत् परमं तु ब्रह्म,
तस्मिंस्त्रयं सु प्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा,
लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः॥७॥

शब्दार्थ— (एतत्) यह (उद्गीतम्) उद्गीत = उद्गीथ = उत्तम-गीत = ओंकार है। [क्योंकि वाच्य और

वाचक नाम और नामी का अभिन्न सम्बन्ध होता है, अतः] (तु) यही तो (परमं-ब्रह्म) परम-ब्रह्म है। (च) और (तस्मिन) उस में ही (त्रयमक्षरम्) तीन अक्षर = विनाश-रहित तत्त्व = ईश्वर, जीव और प्रकृति (सु प्रतिष्ठ) सु प्रतिष्ठित हैं। अथवा— (त्रयमक्षरम्) तीन अक्षर = अकार, उकार और मकार (सु प्रतिष्ठ) सु प्रतिष्ठत है। (अत्र) इस विषय में जो (अन्तरम्) ईश्वर, जीव और प्रकृति का पारस्परिक सत्ता-भेद, स्वरूप-भेद एवं गुण, कर्म और स्वभाव-भेद है— अपना-अपना स्वतन्त्र लक्षण है उस को (विदित्वा) यथार्थ रूप में जानकर (ब्रह्मविदः) वेदज्ञ और ईश्वरोवासक (तत्पराः) ईश्वर-परायण होकर, ईश्वर के प्रति नमन = नमस्कार और आत्म-समर्पण करके (ब्रह्मणि) ब्रह्म में (लीनाः) निमग्न = तल्लीन [हो जाते हैं।] और (योनि-मुक्ताः) जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाते हैं। [यह आनन्दमयी तल्लीनता अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ही प्राप्त होती है।]

६—बन्ध का कारण और मोक्ष का उपया

संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च,
व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशाश्चात्मबध्यते भोक्तृभावात्,
ज्ञात्वादेवं मुच्यतेसर्वं पाशैः ॥८॥

शब्दार्थ— (एतत्) यह नाम-रूपमय-जगत् (क्षरम्) क्षरण-शील=नाशवान् भी है, (च) और (अक्षरम्) अक्षरण-शील=नाश-रहित भी। [कार्य रूप में यह नाशवान् अर्थात् परिवर्तन शील है। कारण रूप में यह नाश-रहित= आरम्भ और अन्त से रहित है। यह दृश्य-जगत् तो जड़ एवं चेतन तत्वों के सुसम्बन्ध और सुनियन्त्रित मेल का ही एक महान खेल है। ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति के अस्तित्व का परम-प्रमाण भी यह दृश्य-जगत् ही है।] (व्यक्त-अव्यक्त) यह जो कुछ भी व्यक्त और अव्यक्त= प्रगट और अप्रगट=स्थूल और सूक्ष्म ज्ञात एवं अज्ञात= कार्य और कारण एवं जड़ तथा चेतन विश्व-प्रपंच है। इस (विश्वम्) सब कुछ को वह (ईशः) सब का एक सर्वोपरि स्वामी ईश्वर अकेला, किसी दूसरे की सहायता के बिना ही (भरते) धारता है, पालता-पोसता है, सुव्यवस्था में रखता और सुप्रकाशित करता है। (च) और वह जो (अनीशः) असमर्थ, अल्पज्ञ, शासन-सामर्थ्य-शून्य अथवा— (अनीशः) अनीश्वरवादी-नास्तिक (आत्मा) जीवात्मा-समुदाय है, वह अपने (भोक्तृभावात्) भोग-भाव के कारण=भोगलालसा =कामना=तृष्णा-जाल के कारण (बध्यते) बन्धता है, बन्धन में पड़ता और जन्म-मरण के चक्कर में घूमता है। [क्या इस बन्धन से उसे कभी छुटकारा भी मिलता है ? हां, मिलता है। वह कब ? और कैसे ? सुनो— जब यह [जीवात्मा प्रत्येक—जीव, जीवात्मा-समुदाय] (देवम्) उस

परम देव को [जान लेता है, आत्म-दर्शन और परमात्म-दर्शन की सिद्धियां प्राप्त कर लेता है, तब] (ज्ञात्वा) जान कर (सर्वं पाशैः) सब प्रकार के बन्धनों से (मुच्यते) छूट जाता है, मुक्त हो जाता है।

विशेष—जिसने अपने आप को नहीं जाना, अपने स्वरूप, सामर्थ्य और लक्ष्य को नहीं पहिचाना, वह ईश्वर को कैसे मान सकेगा ? ईश्वर-दर्शन के पूर्व आत्म-दर्शन अर्थात् जीवात्मा की आत्म-स्वरूप-स्थिति का होना आवश्यक है। इसे स्मृति-लाभ भी कहते हैं।

भव-बन्धन का कारण—जीवात्मा की भोग-लालसा= भोक्तृ-भावना। मुक्ति का साधन—इस भोगवाद और लालसा-जाल से छुटकारा। शास्त्रीय भाषा में इस प्रक्रिया को त्यागवाद भी कहते हैं, यज्ञवाद भी। किसी कवि का कथन ठीक ही है--

हम ख़ुदा थे गर न होता,
दिल में कोई मुद आ
आरज़ुओं ने हमारी,
हमको बन्दा कर दिया।

ऐश्वर्य-प्राप्ति का साधन भी त्यागवाद ही है:—

भागती फिरती थी दुनिया,
जब तलब करते थे हम।
जब से नफरत हमने की,
वह बेक़रार आने को है॥

१० — त्रैतवाद का सम्पोषण

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ—
अजा हि-एकाभोक्तृभोग्यार्थं युक्ता ।
अनन्तात्मा विश्वरूपो हि-अकर्त्ता,
त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥६॥

शब्दार्थ—(द्वौ) दो (अजौ) अज हैं—जन्म और मरण से रहित दो तत्त्व हैं। (ज्ञ- अज्ञौ) उनमें एक तो सर्वज्ञ-ईश्वर है दूसरा अल्पज्ञ-जीवात्मा-समुदाय। इन दानों में से एक तो (ईश-अनोशौ) ईश है= स्वामो है, और दूसरा अनीश= स्वामित्व—शून्य। [ईश्वर ही ईशा है, दूसरा जीवात्मा—समुदाय=सेवक=अनोश। ईश्वर और जोव का स्वामी— सेवक— सम्बन्ध है। अपने गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर यह जोवात्मा वा जीवात्मा-समुदाय संसार का शासन करने में असमर्थ है। भोगोपभोग में भो यह ईश्वर-प्रदत्त शरोर के आधार पर ही थोड़ा-सा समर्थ होता है।]

(हि) निस्सन्देह, इन दोनों अजों से भिन्न (एका अजा) एक अजा भी है। (भोक्तृ) भोग करने वाले के (भोग्यार्थ) उपभोग के लिये वह (युक्ता) उपयुक्त है।

यह प्रकृति ही अजा है। अजन्मा होने के कारण वे दोनों अज हैं और अजन्मा होने कारण हो यह अजा है।

भोग को लालसा रखनें वालों के लिये यह अजा प्रकृति अत्यन्त उपयुक्त है। यह नाना प्रकार के भोगों को देने वालो है। यह भोग्य है। जो कर सके, वह इसका उपभोग कर ले। स्मरण रहे—भोग में रोग का भय है। कल्याण तो सब प्रकार के भोगवादों से अलिप्त रहने में ही है।

सोचा था हम खायेंगे, बहुत अधिक धन-माल।
यहीं धरा सब रह गया, आया काल-कराल॥
भजे अजा के छोड़कर, भजो ओम् का नाम।
ओम् नाम सुख-धाम है, ओम्-नाम गुण-ग्राम॥
ओम् विज्ञ, सुख रूप है, सब भूपों का भूप।
मुक्त कामना-जाल से, सच्चित् प्रभु अरूप॥
ओम्-भजन से हो गये, साधक भव-निधि पार।
अजा-पाश-आबद्ध-जन डूबे बीच मझार॥

शब्दार्थ— (अनन्तात्मा) जीवात्मा तो अनन्त हैं।

विशेष—प्रत्येक छोटे या बड़े शरीर का एक पृथक् जीव होता है। शरीरों से रहित मुक्त और अमुक्त जीवात्मा-समुदाय भी बहुत बड़ा है। किसी एक बड़े शरीर के आश्रय में छोटे-छोटे अनेकों शरीर भी रह सकते हैं। जीवात्माओं की यह अनन्तता मानवी-गणना के अनुसार ही है। ईश्वर की गणना जैसी और जितनी है, वैसी और उतनी ही है।

शब्दार्थ— (हि) इसके साथ ही (विश्वरूपः) वह जो

विश्वरूप— सब रूप ही जिसके रूप हैं। और सभी रूपों में जो व्याप्त है, वह सर्वव्यापक ईश्वर तो (अनन्त) आरम्भ और अन्तरहित है ही। [वह बड़े विस्तारवाला भी है, ओर-छोर से रहित भीं। सृष्टि का निमित्त-कारण प्रेरक, प्रकाशक, नियामक और व्यवस्थापक होने पर भी वह] (अकर्त्ता) अकर्त्ता है

क्योंकि वह प्राकृतिक भोगों का उपभोक्ता नहीं है। उसमें कोई कमी या भोग-लालसा नहीं है। सृष्टि-रचना में उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं है।

शब्दार्थ— (यदा) जब उपासक (एतत्) इस (त्रयम्) त्रिक को, त्रैतवाद को, ईश्वर, जीव और प्रकृति को उनके पृथक्-पृथक् स्वरूप में तथा इन तीनों के सम्मिलित खेल-स्वरूप इस विश्व को (विन्दते) प्राप्त कर लेता है, तब वह (ब्रह्मम्) [त्रिविध] ब्रह्म को [बड़े विस्तार वाली प्रकृति को, अनन्त जीवात्मा-समुदाय को, सर्वोपर परमेश्वर को (विन्दते) [देख-समझकर तत्त्वज्ञान और मोक्ष को] प्राप्त करता है।

ब्रह्म की प्राप्ति के लिये ईश्वर, जीवात्मा-समुदाय और प्रकृतिक का यथार्थ-बोध प्राप्त कर लेना आवश्यक है। प्रशिक्षंण का मुख्य-उद्देश्य इस तात्विक-ज्ञान की प्राप्ति ही है। इस तात्विक-ज्ञान के बिना नानाविध दुःखों से जीवात्मा का छुटकारा न होगा।

जड़ रूपा प्रकृति तो भोग्या है । ब्रह्म-बोध और ब्रह्म-प्राप्ति को कामना करना प्रकृति के लिये अशक्य है । उसे इन की आवश्यकता भी नहीं ।

ईश्वर कामना--शून्य है, भोग-लालसा-शून्य है, आनन्द-स्वरूप और विज्ञान-स्वरूप है । उस में कोई कमी नहीं । उस को कोई आवश्यकता नहीं ।

ब्रह्म-बोध और ब्रह्म-प्राप्ति की आवश्यकता तो बस केवल अल्पज्ञ, आबद्ध, अल्प सामर्थ्यवान्, आनन्द-पिपासु और जन्म-मरण आदि के नानाविध दुःखों को भोगने वाले जीवात्मा-समुदाय के ही है। उसके लिये ही यह तत्त्वज्ञान का व्याख्यान है । उसके लिये ही यह विश्व—प्रपंच है ।

उपनिषद्कार महर्षि ने अखिल मानवता के कल्याण के लिये त्रैतवाद का यह स्वरूप यहां दर्शाया है कि नित्य, मुक्त, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्व-शक्ति-मान् आदि नामों वाले ईश्वर ने, जड़रूपा, भोग्या, अजन्मा, सृष्टि की उपादान-कारणभूता, कारण प्रकृति से अजन्मा, अल्पज्ञ, अशक्त, आनन्द-पिपासु, नाश-रहित अनन्त जीवात्माओं के लिये इस सृष्टि की रचना की है ।

११ — त्रैतवाद का स्पष्टिकरण

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः,
क्षरात्मानौ-ईशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्-योजनात्-तत्त्वभावात्
भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः ॥ १०॥

शब्दार्थ—(प्रधानम्) प्रकृति (क्षरम्) क्षरणशील= खरने वाली, विकार वाली है। (अमृतम्) अमर जीवात्मा (अक्षरम्) विकार-रहित है। (क्षर-आत्मानौ) क्षर-कृति और अक्षर-जीवात्मा-समुदाय पर (एकः) एक अकेला (हरः) प्राणियों के दुःखों को हरने वाला (देवः) ज्योतिः-स्वरूप ईश्वर (ईशते) शासन करता है। (तस्य) उस परमेश्वर का (अभिध्यानात्) निरन्तर विधि पूर्वक ध्यान करने से, तथा स्तुति, प्रार्थना और उपासना द्वारा अपने तन, मन और सर्वस्व को उसके साथ (योजनात्) जोडने से, उसके गुण, कर्म, स्वभाव आदि को उपासने—अपने जीवन में धारण करने से (तत्त्वभूयात्) उसका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने से (भूयः अन्ते) फिर साधना और तत्त्वज्ञान-प्राप्ति के अन्त में— उपासना का सर्वोच्च भूमिका में पहुंच कर (विश्व-माया) सम्पूर्ण अविद्या से (निवृत्तिः) निवृत्ति हो जाती है।

विशेष—जो विनाशवाली प्रकृति को उपासते हैं, वे कष्ट उठाते हैं और क्षीण हो जाते हैं। जो विनाश-रहित परमात्मा को उपासते हैं, वे सुखी, शान्त और समृद्ध हो जाते हैं। साधना पूरी होने पर वे ही मोक्ष-लाभ करते हैं। और अतिदीर्घ काल के लिये सब प्रकार के दुःखों से छूट जाते हैं।

ओङ्कार के तीन अक्षरों का विचार यहां अत्यन्त

बोधप्रद है। अकार, उकार और मकार ये तीन अक्षर क्रमशः ईश्वर, जीव और प्रकृति की स्थिति के प्रति-बोधक हैं। जब जीवात्मा स्थानीय उकार, ईश्वर स्थानीय अकार की ओर अभिमुख होकर, उसमें जुड़ता है, तब अकार और उकार दोनों शास्त्रीय नियमों के अनुसार मिलकर ओकार बन जाते हैं। यथा- अ+उ=ओकार।

इसके विपरीत जब जीवात्मा स्थानीय उकार, प्रकृति स्थानीय मकार को ओर चलता और मिलता है, तब उकार और मकार मिलकर—उ+म्=उम्=उं हो जाता है। इस में मकार शास्त्रीय-विधि के अनुसार मकार बिन्दु अर्थात् अनुस्वार का रूप धारता है और उकार के सिर पर बैठ जाता है। इस प्रकार यह जीवात्मा स्थानीय उकार प्रकृति स्थानीय मकार का वाहन बन जाता है। भोगवादियों को तो प्राकृतिक-बोझ ढोते हुए सभी देखते हैं।

१२ — ईश्वर-दर्शन का फल

ज्ञात्वा देवं सर्व पाशापहाणिः,
क्षीणैः क्लेशैर्जन्म मृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे,
विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः॥११॥

शब्दार्थ–(देवम्) उस ज्योतिः स्वरूप परमपिता परमात्मा को (ज्ञात्वा) जानकर उपासक के (सर्व-पाप-अप-

हानिः) सब पापों-दोषों का अन्त हो जाता है। (क्लेशैः क्षीणैः) क्लेशों के क्षीण होने से=क्लेशप्रद कर्मों के क्षीण होने से (जन्म-मृत्यु-प्रहाणिः) जन्म और मृत्यु के चक्कर भी पूर्णतया टूट जाते हैं। (तस्य-अभिध्यानात्) उस देवाधिदेव ईश्वर का आराधन करने से (तृतीयम्) एक तीसरी उच्चतर अवस्था = भूमिका, जागृत और स्वप्नावस्थाओं के बाद की अवस्था—समाधि प्राप्त होती है और जीवात्मा (केवलः) केवली हो जाता है=असंग, एकान्त प्रिय, आत्माराम, विदेह, जीवनमुक्त हो जाता है। (देहभेदे) देह और देही के भेद को जान लेने पर अपने स्वरूप में सुस्थित हो जाता है। (आप्तकामः) तृप्त हो जाता है, कामनाओं से रहित हो जाता है, उसकी सभी कामनाओं की पूर्ति हो चुकी होती है। (सर्वं ऐश्वर्य्यम्) सम्पूर्ण ऐश्वर्य उसको मिल जाता है।

विशेष—"ऐश्वर्य" पद का उपयोग यहां पर योग-साधना द्वारा प्राप्त होने वाली अणिमा आदि आठ सिद्धियों के लिये ही किया गया है। उस उच्चतम अवस्था में पहुंचकर अपने शिव-संकल्पों के प्रभाव से ही साधक अपने अभिवांच्छित ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेता है।

दिया अपनी ख़ुदी को जो हमने मिटा
वह जो परदा-सा बीच में था, न रहा।
रहा परदे में अब न वह परदा-नशीं,
कोई दूसरा उसके सिवा न रहा॥

एवमेव—

जब मैं था, तब हरि नहीं, जब मैं है हरि नाहिं ।
प्रेम-गली अति सांकरी, या में दो न समाहिं ।।

साधन के सफल होने पर साधु को साधना का उत्तम फल मिलता है और अवश्य ही मिलता है ।

१३ — ब्रह्म—ज्ञान

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्म संस्थं,
नातः परं वेदितव्यं हि किंचित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा,
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म तत् ।। १२।।

शब्दार्थ— (एतत्) यह शरीर और आत्मा में व्यापक (आत्म-संस्थम्) जीवात्मा के अन्दर ही अन्दर अपनी व्यापकता के आधार पर अवस्थित, अनुप्रविष्ट परमात्मा (नित्यमेव) नित्य ही है = सदैव रहने वाला है । तथा (सदा ही (ज्ञेयम्) जानने योग्य है । (हि) निस्सन्देह (भोक्ता) उपभोग करनेवाले जीवात्मा-समुदाय को (भोग्यम्) उपभोग करने के योग्य प्राकृतिक भोग-समुच्चय को (च) और (प्रेरितारम्) सृष्टि के प्रेरक = निमित्त कारण ईश्वर को (मत्वा) मानकर, मनन द्वारा जान कर (अतः परम्) इससे परे, इस से बढ़कर (किंचित्) और कुछ वेदितव्यम्) जानने योग्य (न) नहीं है । (एतत्)

यह (ब्रह्म) ब्रह्मजान (त्रिविधम्) [ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति-भेद से] तीन प्रकार का है। यहाँ तक उस को (सर्वम्) पूर्णतया (प्रोक्तम्) कह दिया गया है। यह त्रिविध ब्रह्म-ज्ञान यहां पूरा हो गया है।

विशेष—प्रकृति भोग्या है। जीवात्मा भोक्ता है। ईश्वर प्रेरक, द्रष्टा और साक्षी है। ब्रह्म का पूरा उपदेश यह इतना ही है। ये तीनों ही बड़े-बड़े तत्त्व हैं। अतः इनको ब्रह्म कहते हैं। बृहदत्वात् ब्रह्म। क्योंकि जीवात्मा-समुदाय संख्या में बहुत बड़ा—मानवी गणना के अनुसार अनन्त है, अतः वह भी ब्रह्म है। कारण-रूपा और कार्य-रूपा प्रकृति का विस्तार बहुत बड़ा है। अतः वह भी ब्रह्म है। ब्रह्म तो ब्रह्म है ही। उस की बड़ाई में तो किसी को कोई सन्देह है ही नहीं। वह तो महान से भी महान है।

अन्तर्यामी ब्रह्म का यह उपदेश विशेष रूप से मनन करने योग्य है। नवीन मत-प्रवर्त्तकों ने ईश्वरवाद विषयक बहुत-से विभ्रम संसार में फैला रखे हैं। आधुनिक युग में इस विभ्रम जाल का उच्छेद करने के लिये सब से अधिक प्रयास महर्षि दयानन्द जी के आत्मा और परमात्मा विषयक उल्लेख तो उपनिषदों के समान ही अत्यन्त महत्व-पूर्ण हैं। यथा—

प्रश्न—जीव और ईश्वर का स्वरूप, गुण, कर्म और स्वभाव कैसा है?

उत्तर—दोनों चेतन स्वरूप हैं। स्वभाव दोनों का पवित्र, अविनाशी और धार्मिकता आदि है। परन्तु परमेश्वर के सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति, प्रलय, सब को नियम में रखना, जीवों को पाप-पुण्यों के फल देना आदि धर्मयुक्त कर्म हैं। और जीव के सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन, शिल्पविद्या आदि अच्छे-बुरे कर्म हैं। ईश्वर के नित्य-ज्ञान, आनन्द, अनन्त बल आदि गुण हैं। और जीव के—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगमिति।

[न्याय सूत्र अ० आ १। सूत्र १०]

प्राणापान निमेषोन्मेषमनोगतिइन्द्रियान्तरविकाराः सुख-दुःखेच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्चात्मनो लिंगानि।

[वैशेषिक-सूत्र, अ०३।आ०२। सू०४]

(इच्छा) पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा, (द्वेष) दुःख आदि की अनिच्छा, वैर, (प्रयत्न) पुरुषार्थ, बल, (सुख) आनन्द (दुःख) विलाप, अप्रसन्नता, (ज्ञान) विवेक, पहिचानना ये तुल्य हैं। परन्तु वैशेषिक में (प्राण) प्राण वायु को बाहर निकालना, (अपान) प्राण को बाहर से भीतर को लेना, (निमेष) आँख को मींचना, (उन्मेष) आँख को खोलना, (मन) निश्चय, स्मरण और अहंकार करना, (गति) चलना, (इन्द्रिय) सब इन्द्रियों का चलाना, (अन्तरविकार) भिन्न-भिन्न क्षुधा, तृषा, हर्ष, शोकादियुक्त

होना, ये जीवात्मा के गुण परमात्मा से भिन्न हैं। इन्हीं से आत्मा की प्रतीति करनी, क्योंकि वह स्थूल नहीं है।

[सत्यार्थ-प्रकाश, सातवां समुल्लास]

एक और महत्वपूर्ण उल्लेख :—

प्रश्न—ब्रह्म के सत्, चित्, आनन्द और जीव के अस्ति, भाति, प्रियरूप से एकता होती है, फिर क्यों खण्डन करते हो ?

उत्तर—किंचित् साधर्म्य मिलने से एकता नहीं हो सकती। जैसे पृथिवी जड़, दृश्य है, वैसे जल और अग्नि आदि भी जड़ और दृश्य हैं, इतने से एकता नहीं होती। इन में वैधर्म्य भेदकारक अर्थात् विरुद्ध धर्म जैसे गन्ध, रूक्षता, काठिन्य, आदि गुण पृथिवी और रस, द्रवत्व, कोमलत्वादि धर्म जल और रूप, दाहकत्वादि धर्म अग्नि के होने से एकता नहीं। जैसे मनुष्य और कीड़ी आँख से देखते, मुख से खाते और पग से चलते हैं, तथापि मनुष्य की आकृति दो पग और कीड़ी की आकृति अनेक पग आदि भिन्न होने से एकता नहीं होती, वैसे परमेश्वर के अनन्त, ज्ञान, आनन्द, बल, क्रिया, निर्भ्रान्तित्व और व्यापकता जीव से, और जीव के अल्पज्ञान, अल्पबल, अल्पस्वरूप, सब भ्रान्तित्व और परिछिन्नादि गुण ब्रह्म से भिन्न होने से जीव और परमेश्वर एक नहीं। क्योंकि इनका स्वरूप भी

(परमेश्वर अतिसूक्ष्म और जीव उससे कुछ स्थूल होने से) भिन्न है ।

[सत्यार्थ-प्रकाश, सातवां समुल्लास]

और देखें —

प्रश्न—ईश्वर में इच्छा है, वा नहीं ?

उत्तर—वैसी इच्छा नहीं । क्योंकि इच्छा भी अप्राप्त, उत्तम और जिसकी प्राप्ति से सुख विशेष होवे, [उस की होती है] तो ईश्वर में इच्छा हो सके । न उस से कोई अप्राप्त पदार्थ, न उससे कोई अप्राप्त पदार्थ, न कोई उससे उत्तम और पूर्ण सुखयुक्त होनें से सुख की अभिलाषा भी नहीं । इसलिए ईश्वर में इच्छा का तो सम्भव नहीं । किन्तु ईक्षण अर्थात् जो सब प्रकार की विद्या का दर्शन और सब सृष्टि का करना कहाता है, इस ईक्षण है ।

[सत्यार्थ-प्रकाश, सातवां समुल्लास]

एक और निर्णायक और सिद्धान्त प्रतिपादक उल्लेख, जिस को समझे विना लोग और बहुत से तथाकथित विद्वान् भी प्रायः भटकते रहते हैं :—

प्रश्न—जिस जगह में एक वस्तु होती है, उस जगह में दूसरी वस्तु नहीं रह सकती । इसलिए जीव और ईश्वर का संयोग सम्बन्ध हो सकता है, व्याप्य—व्यापक—[संबंध] नहीं ।

उत्तर—यह नियम समान आकार वाले पदार्थों में घट सकता है, असमानाकृति में नहीं। जैसे लोहा स्थूल, अग्नि सूक्ष्म होता है, इस कारण से लोहे में विद्युत अग्नि व्यापक होकर एक ही आकाश में दोनों रहते हैं। वैसे जीव परमेश्वर से स्थूल और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म होने से परमेश्वर व्यापक और जीव व्याप्य है। जैसे यह व्याप्य-व्यापक संबंध जीव-ईश्वर का है, वैसे ही सेव्य-सेवक, आधाराधेय, स्वामिभृत्य, राजा-प्रजा और पिता-पुत्र आदि भी संबंध है।

[सत्यार्थ प्रकाश, सातवां समुल्लास]

उर्दू के कुछ कवि भी रूस के समीप पहुंचे थे। परंतु अपनी भाषा की दरिद्रता के कारण वे सत्य को यथार्थ रूप में प्रकट न कर सके। ईश्वर को उन्होंने भी अन्तर्यामी तो माना, परन्तु दिल में छुपा हुआ। कुछ विद्वानों ने उसे हृदय-रूपी गुफा में स्थित कथन किया था, इन्होंने हृदय को दिल कह दिया। उर्दू में शायद मन और हृदय इन दोनों के लिए ही "दिल" शब्द का प्रयोग होता है। कथन तो उर्दू वालों का भी उच्चतर है। इसमें श्रद्धा का पुट भी है, अनुभव का चमत्कार भी—

दिल के आइने में है तस्वीरे यार।
जब जरा गर्दन झुकाई देख ली॥

और—

दिल के आइने को अल्लाह सलामत रक्खे ।
इस में तो जाने–तमन्ना नजर आता है मुझे ।।

और भी—

ख़ानये दिल में छिपा था, मुझे मालूम न था ।
परदा ग़लफत का पड़ा था, मुझे मालूम न था ।।

सन्त कबीर का कथन है—

प्रियतम को पतियां लिखूं, जो होवे परदेश ।
तन में मन में नयन में, वाको क्या सन्देश ।।

एवमेव—

ज्यों तिल मांहि तेल है, ज्यों चकमक में आग ।
त्यों प्रियतम तुझ में बसे, देख अभागे जाग ।।

ईश्वर-दर्शन की सिद्धि प्राप्त करने के लिये उपनिषद्-कार वेदों में प्रतिपादित ओङ्कारोपासना का विधान करते हैं :—

१४ — ओङ्कारोपासना

वन्हेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिः,
न दृश्यते नैव च लिंगनाशः ।
स भूय एवेन्धनयोनि गृह्यः,
तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ।।१३।।

शब्दार्थ :—(यथा) जैसे (योनिगतस्य) अपने कारण में लीन होने वाले (वन्हेः) अग्नि की (मूर्तिः) आकृति (न दृश्यते) नहीं दिखाई देती (च) और (लिंगनाशः एव न) उस का सर्वनाश=अत्यन्त अभाव भी नहीं होता, (सः) वह अग्नि (भूयः एव) फिर भी (इंधन—योनि–गृह्यः) प्रज्वलनशील तत्त्वों के योग से प्राप्त किया जा सकता है, (तद्वा) उसी प्रकार (उभयम् वै) इन दोनों—जीवात्मा और परमात्मा को भी (प्रणवेन) प्रणव=ओम्=ओ३म्—ओङ्कार के जप द्वारा उपासक जन इस (देह) देहे में ही प्राप्त कर लेते हैं।

विशेष—विधिपूर्वक अन्तर्मुख होने और प्रयत्न करने पर उपासकों को आत्म-दर्शन और ईश्वर-दर्शन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धियां अपने इसी शरीर में इसी जीवन में प्राप्त होती हैं। शरीर से बाहिर तो किसी को कोई सिद्धि मिलती नहीं, क्योंकि जीवात्मा तो शरीर से बाहिर नहीं। अतः—

आँख, नाक, मुख मूंदकर, नाम निरंजन लेय।
भीतर के पट तब खुलें, बाहिर के पट देय॥

तथा च—

अलख-तत्त्व को आरसो, साधु की ही देह।
लखा जो चाहे अलख को, इस में ही लख लेय॥

और—

आंख, नाक, मुख मूंदकर, ओम्-ओम् नित्य बोल।
बाहिर के पट बन्दकर, भीतर के पट खोल॥

एवमेव—

मुख से ओ३म् कहत ही निकसत पाप-पहाड़।
फिर आवन पावत नहीं, देत मकार किंवाड़॥

साधु शिरोमणि मौलाना रूमी का कथन है—

चश्म बन्दो, गोशबन्दो, लब बबन्द।
गर न बोनी नूरे हक़ बरमन बखन्द॥

अर्थ— आंखें बन्द कर, कान बन्द कर, होंट बन्द कर। सभी इन्द्रियों को अपने वश में करले। संयमशील बन। ऐसा करने के बाद यदि उस ज्योतिस्वरूप ईश्वर का विमल प्रकाश तुझे दिखाई न दे, ईश्वर-दर्शन की सिद्धि तुझे न मिले तो मुझ पर हंस।

१५ — ओङ्कार—जप

स्वदेहमरणिं कृत्वा,
प्रणवं चोत्तराणिम्
ध्यान-निर्मथनाभ्यासाद्,
देवं पश्येन्निगूढ़वत् ॥१४॥

शब्दार्थ—(स्वदेहम्) अपने शरीर को (अरणिम् कृत्वा)

अरणि बनाकर, [अरणि उस विशेष प्रकार के काष्ठ-खण्ड को कहते हैं, जो प्राचीन परम्परा के अनुसार यज्ञ में अग्नि प्रदीप्त करने के लिये उपयोगा जाता है। अब दीप-शलाका का अधिक प्रचार-व्यवहार होने के कारण वह प्राचीन अरणि-विज्ञान विस्मृत-सा होता जा रहा है।] (च) और (प्रणवम्) ईश्वर के निज नाम ओ३म् को (उत्तरारणिम्) ऊपर की अरणि बनाकर (ध्यान-निर्मंथन-अभ्यासात्) नामी का ध्यान और नाम का जप करके ध्यान और जप रूपी रगड़=संघर्ष के अभ्यास से उस (देवम्) ज्योतिः स्वरूप ईश्वर को (पश्येत्) [अपने दिव्य नेत्रों से] प्रत्यक्ष देखे, [यह प्रत्येक उपासक का कर्त्तव्य है।] (निगूढ़वत्) जैसे कि किसी पत्थर या लकड़ी आदि में गुप्त अग्नि को देखा जाता है।

विशेष—ईश्वर की सत्ता, महत्ता, सर्वव्यापकता और रहस्यपूर्ण गुप्तता को उदाहरणों से दर्शाते हैं :—

१६ —— ईश्वर की सर्वव्यापकता

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पि—
रापः स्त्रोतःस्वरणिषु चाग्निः।
एवमात्मनि गृह्यते ऽसौ,
सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥ १५॥

शब्दार्थ–(इव) जैसे (तिलेषु) तिलों में (तैलम्) तेल, (दधनि) दही में (सर्पिः) घी (स्त्रोतः) स्त्रोतों में जल (च) और

(सुअरणिषु) उत्तम अरणियों में (अग्निः) आग [गुप्त रूप में होते हैं,] (एवम्) उसी प्रकार (असौ आत्मा) वह परमात्मा [सर्वत्र व्याप्त होकर गुप्त रूप में रहता है ।] (यः) जो कोई साधक (एनम्) उस इसको (सत्येन) सत्यशीलता से और (तपसा) तपश्चर्या पूर्वक (अनुपश्यति) नियम पूर्वक देखता है, उससे (आत्मनि) अपने अन्दर अपने हृदय मन्दिर में-अपने आन्तरात्मा में ही वह (गृह्यते) प्राप्त किया जाता है ।

विशेष—जैसे कोल्हू नामक यन्त्र के द्वारा पीड़ित करने पर तिलों में से तेल प्राप्त होता है । जैसे मन्थन करने पर दही में से घृत प्राप्त होता है, जैसे जल के स्रोतों को खोजने और खोदने से जल एवं जैसे विधिपूर्वक रगड़ने पर उत्तम अरणियों में से अग्नि प्राप्त होती है, उसी प्रकार वह निराकार, सर्वव्यापक, घट-घटवासी, गुप्त रूप से सर्वत्र निवास करने वाला परमात्मा भी जिज्ञासुजनों को अपने अन्दर, अपने हृदय में—अपने आत्मा में ही मिलाता है ।

जो उसे सत्यतापूर्ण आचार-विचार, प्राणायाम के अभ्यास, गरमी-सरदी, भूख-प्यास आदि द्वंद्वों के सहन, कर्त्तव्य-पालन और मार्ग में आनेवाली अनेकविध कठिनाईयों को झेलते हुए, विधिपूर्वक खोजते हैं, वे प्रभु को कृपा से किसी दिन सफल भी हो जाते हैं । ईश्वर-दर्शन का सर्वमान्य और आधार-भूत साधन तो सत्याचार=सदाचार ही

है। सत्य और तप से विमुखता तो नास्तिकता भी है, विफलता भी।

१७ — परम ब्रह्मोपनिषद्

सर्वव्यापिनमात्मानं
क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।
आत्मविद्या तपोमूलं,
तद् ब्रह्मोपनिषत्परम्॥
तद ब्रह्मोपनिषत्परम्॥१६॥

शब्दार्थ :—(आत्म-विद्या) आत्म-विद्या और (तपः-मूलम्) तप के मूल आधार उस (सर्वव्यापिनम्) सर्वव्यापक (आत्मानम्) परमात्मा को [उसी प्रकार प्राप्त करना चाहिए (इव) जैसे कि (क्षीरे) दूध में से (सर्पिः) घृत को प्राप्त किया जाता है (तत्) उस (परम ब्रह्म) परम ब्रह्म का (उपनिषत्) रहस्यमय ज्ञान यही है। हाँ! हाँ उसका रहस्यमय ज्ञान यही है।

पहला अध्याय समाप्त

———

दूसरा अध्याय

१—दूसरे अध्याय का मुख्य-विषय

(१) — श्वेताश्वतरोपनिषद् के इस दूसरे अध्याय में मुख्यतया योग-विद्या और योग-प्रक्रिया द्वारा प्राप्त होने वाली उच्चतर भूमिकाओं का वर्णन है। यह बात भी बड़े महत्व की है कि इस अध्याय के प्रथम पाँच श्लोक तो थोड़े और नगण्य-से पाठ-भेद के साथ यजुर्वेद के ग्यारहवें अध्याय के प्रथम पाँच मन्त्र ही हैं।

(२) — पातंजल-योग दर्शन का मूल-बीज जो वेदों में मिलता है, वही इस अध्याय के प्रथम पाँच श्लोकों का मुख्य विषय है। उनसे आगे इस अध्याय के अन्त तक योग साधन को सामान्य प्रक्रिया का संक्षिप्त निदर्शन हो है। उपासकों और साधकों को इस अध्याय में प्राचीन योगियों के अनुभव कि एक महत्वपूर्ण झलक मिल जाती है। नये साधकों के लिए वह सहायक है।

(३) — श्वेताश्वतरोपनिषद के जो टीका-टिप्पण आदि हिन्दो, संस्कृत और अंग्रेजी में मिलते हैं, उनमें इस अध्याय के प्रथम पांच श्लोकों का व्याख्यान योग-मार्ग से भिन्न

प्रकार का ही देखने में आता है । कोई सृष्टि के क्रमिक विकास को दर्शाता है, कोई सविता-प्रसविता के गोत गाता है । व्याकरण और विज्ञान् की रीतियों के अनुसार उन-उन अर्थों की सत्यता को स्वीकार करते हुए भो मेरा नम्र-निवेदन यह है कि उक्त पांच श्लोकों का मुख्य अर्थ तो योग-विद्या-प्रकाशक ही है ।

(४)—प्रथम पांच श्लोकों में वैदिक-योग-विद्या के दर्शन कर लेने पर इस अध्याय के आरम्भ से अन्त तक अनु-क्रम—बद्ध योगोपदेश हो पाप्त होता है । और असंगत—उप-देश का दोष भी इस प्राचीन कृति पर नहीं लगता ।

(५)—श्वेताश्वतरोयनिषद् के पहले अध्याय के अन्त में जो ओङ्कारोपासना-विधान है, और उसके उपसंहार में ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये सत्यशीलता और तप के अनुष्ठान का जो उपदेश है, उसे देखते हुए भो इस दूसरे अध्याय में योग-विद्या और उस को व्यावहारिक प्रक्रिया का प्रतिपादन ही सुसंगत है ।

(६)—उन श्वेताश्वतर आदि प्राचीन ब्रह्मवादियों ने, जिस ध्यान-योग की अवस्था में इस ब्रह्माण्ड को ब्रह्म-चक्र के रूप में देखा था, और इस पिण्ड अर्थात मानव-देप को एक वेगवती नदो से उपमा दी थी, उस ध्यान-योग का प्रकार और रहस्य ही इस अध्याय में प्रतिपादित है ।

(७)—इस दूसरे अध्याय का विशेष मनन करने के लिये पातंजल-योग-दर्शन की किसी छोटी या बड़ी पुस्तक को भी मनन में शामिल कर लेना ठीक है। इस से विशेष बोध होगा। वैदिक-योग-विद्या का विस्तार और अनुष्ठान प्रकार तो अब पातंजल-योग-दर्शन में ही मिलता है। वह अनुभूत भी है, सरल और निर्दोष भी

(८)—वेदों, उपनिषदों और पातंजल-योग-दर्शन में प्रतिपादित योग-विद्या ही संसार में "राज-योग" नाम से प्रसिद्ध है यह प्रणाली शीघ्र फल देने वाली है हठ-योग आदि नामों से प्रसिद्ध योग-प्रणालियां तो कष्ट-साध्य, भयंकर रोगोत्पादक, संदिग्ध, नवीन और अनावश्यक अतएव त्याज्य ही हैं।

(९)—योग्य सहायक वा प्रशिक्षक की आवश्यकता तो योगानुष्ठान में होती ही है। इस कार्य में संदिग्ध-श्रेणी के लोगों के माया-जाल से बचना भी आवश्यक है। सुयोग्य शिक्षक के अभाव में तो साधकों का अपना अनुभव ही प्रशिक्षकवत् होता है।

—जयत्कुमार शास्त्री "साधु सोमतीर्थ"

२ — राज-योग

युञ्जानः प्रथमं मनः
तत्त्वाय सविता धियः ।
अग्ने ज्योतिर्निचाय्य,
पृथिव्या अध्याभरत ॥२॥

शब्दार्थ—(युंजानः) योगी अपने चित्त की वृत्तियों का निरोध करने वाला, संयमी उपासक (प्रथमं मनः) अपने चंचल, विषय-वासनाओं में फंले हुए=बिखरे हुए=दौड़ने वाले मन को (धियः तत्त्वाय) बौद्धिक उत्कर्ष=तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिये उस (सविता) जगत्-प्रसविता=संसार के प्रेरक, निर्माता, सृष्टि के निमित्त कारण के साथ जोड़ता है, बुद्धिपूर्वक आस्तिकभाव को अपनाता है। (अग्नेः) उस अग्रणी, ज्योतिदाता, ज्ञान, जीवन और जागृति के भण्डार से (ज्योतिः) ज्ञान, ओज, तेज प्रभाव एवं विज्ञान को (निचाय)प्राप्त करके वह उसे (पृथिव्याः) इस पार्थिव देह में, (अधि-आ-भरत) अधिकारपूर्वक भर लेता है और (पृथिव्याः) भू-मण्डल को उससे (अधि-आ-भरत) आपूरित कर देता है।

विशेष—चित्त की वृत्तियों के निरोध को ही योग कहते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्ययहार पूर्वक ही योग-साधन सफल होता है। जो पहले अपने मन का वशीकरण और संशोधन करेगा, वही निरन्तर जागरूकता, अभ्यास एवं वैराग्य के परिपक्व होने पर योग-मार्ग की उच्चतर भूमियों और अधिक महत्वपूर्ण सिद्धियों को भी प्राप्त कर सकेगा।

पात्र और परिस्थिति भेद से चित्त की वृत्तियां तो अनन्त हैं, तथापि पातंजल-योग-दर्शन में उन सब का समाहार—प्रमाण, विपर्य, विकल्प, निद्रा और स्मृति इन पांच वर्गों में किया गया है। यह एक अत्यन्त उपयोगी विषय है। इसका विशेष विचार योग-दर्शन की किसी टीका के सहारे-सहारे करना चाहिए।*

योग-दर्शन के उद्धरणों को यहां दर्शाने का विचार हमें छोड़ना पड़ा। निर्दोष-मनन के लिये तो सम्पूर्ण योग-दर्शन को ही विचारना चाहिये।

योग-दर्शन के अनुसार प्रमाल तीन हैं :—

प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द [वेद एवं आप्त वाक्य]। मिथ्याज्ञान को विपर्य कहते हैं। वस्तु-रहित होने पर भी शब्द अवतार से प्रतीत होने वाली वृत्ति को विकल्प कहते हैं। अभाव ज्ञान का सहारा लेने वाली वृत्ति ही निद्रा है। यहां पर "निद्रा" का अर्थ प्रगाढ़-निद्रा—सुषुप्ति ही है। किसी पूर्वानुभूत विषय के ज्ञान का नष्ट होना ही स्मृति है।

ये पांचों वृत्तियां बड़े विस्तार वाली हैं। इनके निरोध से जब योगी जन बौद्धिक उत्कर्ष को प्राप्त कर लेते हैं, तब उनकी प्रज्ञा "ऋतम्भरा" कहलाती है। [ऋतम्भरा तत्रप्रज्ञा—योग-दर्शन १।४८] "ऋतम्भरा" का अर्थ है—सत्यनिष्ठ, परिशुद्ध, सारयुक्त एवं विवेक गर्भित। यह असाधारण प्राप्ति है।

मन का वशीकरण आवश्यक तो है, परन्तु सरल नहीं। कठिन होने पर भी इसे असम्भव न समझना चाहिये। निरन्तर प्रयत्न करने पर मन का वशीकरण वा

चित्त की वृत्तियों का निरोध हो ही जाता है। ठीक यही प्रसंग प्रस्तुत होने पर अर्जुन ने कहा था :—

चंचलं हि मनः कृष्ण !
प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये,
वायोरिव सुदुष्करम् ॥

[गीता—६।३४]

हे कृष्ण! मन बड़ा चंचल और प्रमथनशील है। यह विषय-वासनाओं में रमण करने वाला और शक्तिशाली है। उसे वश में करना तो मुझे वायु को वश में करने के समान अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है।

अर्जुन के कथन की सत्यता को स्वीकारते हुए प्रत्युत्तर में श्री कृष्ण ने कहा था—

असंशयं महाबाहो,
मनो दुर्निग्रह चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय !
वैराग्येण च गृह्यते ॥

असंयतात्मना योगो
दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता,
शक्योऽवाप्तुमुपायतः

[गीता—६-३५-३६]

हे महाबाहो ! निस्सन्देह, मन बड़ा चंचल है। उसे वश में करना आसान नहीं है। फिर भी हे कुन्ती के लाल ! अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन को वश में किया जा सकता है। मन का वशीकरण असम्भव नहीं है।

मेरा यह सुनिश्चित मत है कि जो संयम-शून्य और शरीर के सम्पोषण में निमग्न लोग होते हैं, वे अपने चित्त की वृत्तियों के निरोध में विफल होते हैं। परन्तु प्रयत्नशील संयमी नर-नारी तो योग-मार्ग में सफल हो जाते हैं।

योग-दर्शनकार ने भी मन के वशीकरण का उपाय अभ्यास और वैराग्य को ही बताया है :

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

योग-दर्शन—१।१२

अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है।

गीताकार ने "यतता" शब्द के द्वारा साधक का जो स्वरूप दर्शाया है, वही उपनिषद् में "युंजानः" प्रयोग द्वारा दर्शाया गया है। इसका अभिप्राय है—योग-साधना में संलग्न।

उपनिषद् के 'सविता" शब्द को देखकर यहां गायत्री-मन्त्र—सावित्री-मन्त्र हमारे विचार का विषय बन जाता है। उस सविता देव की अमोघ प्रेरणा ही तो साधक को

सम्यक्-ज्ञान को प्राप्ति कराती है। तत्त्वज्ञान प्राप्ति के लिये साधक की पात्रता आवश्यक है, प्रभु को कृपा भी।

"अग्नि" शब्द का व्याख्या-विस्तार बहुत अधिक है। ईश्वर, सूर्य, नेता, पुरोहित, आत्मा, ज्ञान, गमन, प्राप्ति, तेज, पुरुषार्थ, आग आदि "अग्नि" शब्द के अनेक अर्थ हैं। यहां "अग्नि" के ईश्वरार्थ में ईश्वर-प्रणिधान की प्राप्ति सुस्पष्ट है। वैराग्य तो ज्ञान की पराकाष्ठा को ही कहते हैं। आत्म-दर्शन और ईश्वर-दर्शन में यह आग्नेय उपासना=प्रकाशोपासना विशेष सहायक है।

इन्द्रिय-निग्रह और चित्त-वृत्ति-निरोध के पश्चात् योग-मार्ग में सफलता-प्राप्त प्रभु प्रेमी जनों को जो विशेष बल, संबल, और आठ प्रकार का योग-ऐश्वर्य प्राप्त होता है, उसका उपयोग वे सिद्ध योगी अखिल भू-मण्डल में सुख-सुविधाओं के प्रसार, भद्रस्थितियों के निर्माण एवं प्राणियों के त्रिविध दुःखों के निवारण के लिये ही किया करते हैं। तभी तो इस श्लोक में स्पष्टता से दर्शाया गया है कि योगी-वर प्रभु से प्राप्त ज्ञान और विज्ञान का उपयोग तथा प्रसार सम्पूर्ण संसार में करते हैं और अनुभूत सच्चाइयों के प्रचार से सम्पूर्ण मानव-समाज को ही नहीं, प्राणी मात्र को सुखी, समृद्ध, शान्त और उन्नत बनाते हैं।

इस अध्याय के इस प्रथम श्लोक का दूसरा अर्थ इस प्रकार है:—

ईश्वर सविता है। सृष्टि का प्रसविता है। वह प्रेरक भी है, विकासक, प्रकाशक और उत्पादक भी। सृष्टि-रचना-क्रम इस प्रकार चला—प्रकृति से महान अर्थात् महतत्त्व हुआ। महतत्त्व को ही "धी" या "बुद्धि" भी कहते हैं। विकास क्रम आगे-आगे बढ़ा। फिर मन हुआ। फिर अग्नि और चारों ओर प्रकाश फैल गया। फिर यह पृथिवी का गोला प्रकाश में आ गया।

इस अर्थ के अनुसार प्रकृति से महतत्त्व, महतत्त्व के पश्चात् मन, मन के बाद अग्नि और अग्नि के बाद पृथिवी का विकास कथन किया गया है। अग्नि का क्रमिक-स्थान यहां चौथा है। प्राचीन काल में जब यह विज्ञान संसार में फैला था, तब आधुनिक ईसाईयों, मुसाईयों और मुहम्मदियों के पूर्वजों तक भी यह ज्ञान अवश्य ही पहुंचा था। तभी तो बाइबिल की प्रथम पुस्तक—"उत्पत्ति की पुस्तक" में लिखा है कि ईश्वर नें चौथे दिन सूर्य को बनाया। यदि "दिन" का अर्थ विकास क्रम माने तो बाइबिल का उल्लेख सुसंगत हो जायेगा।

३—स्वर्ग की सीढ़ी

युक्तेन मनसा वयं,
देवस्य सवितुः सवे।
सुवर्गेयाय शक्त्या ॥२॥

शब्दार्थः—(युक्तेन मनसा) अपने योग-युक्त मन के द्वारा (वयम्) हम (सवितुः देवस्य) जगदोत्पादक परम पिता परमात्मा की (सवे) सेवा=भक्ति=स्तुति, प्रार्थना, उपासना करते हैं। (सुवर्गेयाय) स्वर्ग की प्राप्ति के लिये (शक्तया) अपनी शक्ति के अनुसार।

विशेष—स्वर्ग की प्राप्ति के लिये तो प्रायः सभी लालायित रहते हैं। यह मानव-मात्र की एक सहज-कामना है। नरक के प्रति मानवी अरुचि भी स्वाभाविक है। ये स्वर्ग और नरक क्या हैं? इस विषय में साम्प्रदायिक लोगों ने बहुत-से विवाद और विभ्रम फैला दिये हैं। अतः मानव जाति को भारी कष्ट उठाने पड़ रहे हैं। मनुष्य को जब अपने लक्ष्य का ही पता नहीं, तो उसे भटकना ही पड़ेगा। ऐसी अवस्था में प्रगति की क्या कथा?

महर्षि दयानन्द जी समस्या को सुलझाते हैं:—

स्वर्ग

जो विशेष सुख और सुख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है, वही "स्वर्ग" कहाता है।

नरक

जो विशेष दुःख और दुःख की सामग्री को जीव का

प्राप्त होना है, उसको "नरक" कहते हैं।

इस विषय में विस्तार से और भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है। वेदों में भले लोगों के उक्त परिवारों के चित्रण भी स्वर्ग के रूप में ही किये गये हैं। यथा—अथर्व० ६।१२०।३ में और अथर्व० ६।१२२।२ में।

इससे यह भी विदित होता है कि दुष्ट लोगों के रोगी, दरिद्रता-ग्रस्त, विरोधी और नाना प्रकार के कुसंस्कारों में उलझे हुए परिवार ही "नरक" हैं।

किसी कवि ने स्वर्ग और नरक के चित्र रचे हैं:—

अन्न पुराना, घी नया, घर सतवन्ती नार।
चौथे पीठ तुरंग की स्वर्ग निशानी चार॥

महिलाओं के मनोभावों का आदर करते हुए इस दोहे को थोड़ा-सा बदला जा सकता है:—

अन्न पुराना, घी नया, हो सज्जन भर्तार।
घर में मोटर कार हो, स्वर्ग निशानी चार॥

जो स्वर्ग नहीं, वह नरक है। तथापि:—

तन पर मैले कापड़े, सिर पर मैले बाल।
देना हो करजा घना, घर कलिहारी नार॥
बुध-जन ऐसा कह गये, खूब विचार-विचार।
नरक-निशानी चार हैं, सुनो सभी नर-नार॥

महिलाओं की दृष्टि से यहां भी परिवर्तन कर लें:—

तन पर मैले कापड़े, सिर पर मैले बाल।

देना हो करजा घना, दुष्ट मिले भर्तार ॥

ऋण ले-लेकर खाना तो नरक की हो निशानी है। इसे कमाई, बुद्धिमत्ता, धार्मिकता या हितकारिता कोई न समझे। नरक से सभी को प्रयत्न पूर्वक बचना चाहिये।

सफलता-प्राप्ति के लिये प्रत्येक कार्य में पूर्ण मनोयोग का होना भी आवश्यक है और अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार पूर्ण उद्योग भी। आधे मन, अधूरे प्रयत्नों और ओछे साधनों से तो विफलताओं का हो सामना करना पड़ता है। इसके साथ ही समय और शक्ति की भी हानि होती है। जग-हँसाई होती है, सो अलग।

प्रथम श्लोक में "युंजानः" पद प्रयुक्त हुआ था। उस का अभिप्राय था—योग-साधन के लिये प्रयत्नशील। यहां पर "युक्त" पद का व्यवहार है। यह उससे उच्चतर भूमिका है "युक्त" का भाव है—सिद्ध, समाहित, योगारूढ़ तथा सुसंगत। वह जिज्ञासु था। यह अपने अनुभव के प्रकाश में आगे ही आगे बढ़ने वाला, ईश्वर की दिव्य प्रेरणाओं से अनुप्राणित, सदसत् का ज्ञाता, विवेकशील उपासक है।

प्रभु के गुण, कर्म और स्वभाव तो अनन्त हैं; परन्तु उपासकों को ईश्वरीय-सम्पदाओं की प्राप्ति तो अपने-

अपने सामर्थ्य, प्रभु-प्रेम और पात्रता के अनुसार ही होगी।

धैर्य और विश्वास, रखो जो-जो साधन, सामर्थ्य-अवसर ईश्वर की कृपा से आपको सुलभ हैं, पहले उन का सदुपयोग कर लो। यह सदुपयोग ही आपके विवेक और कार्य-कौशल की कसौटी है। आवश्यकता होने पर फिर मांग लेना। मांगने का ढंग ठीक होगा, तो नया अवसर, अधिक सामर्थ्य, नये साधन और नये-नये सहायक भी मिल जायेंगे। उसके भण्डार में कोई कमी नहीं है। हम ही पात्रता की कसौटी पर पूरे नहीं उतरते।

उसे फज्ल करते नहीं लगती बार।
न हो उससे मायूस उम्मेदवार ॥

यदि प्रभु-प्रदत्त ऐश्वर्य का दुरुपयोग होगा, तब तो जो कुछ प्राप्त है, उस सम्पूर्ण सामर्थ्य और ऐश्वर्य के छिन जाने का दुःखद प्रसंग भी आ ही जायेगा। अतः उस सविता देव से ऋतम्भरा-प्रज्ञा का दान लेना सीखो, जिस से कि भूलों और भ्रान्तियों से बचो। हाँ, उस की दिव्य प्रेरणाओं में रहना और जीना सीखो।

कुछ लोग परलोक की ही अधिक चिन्ता किया करते हैं। मानो उनके लिये इस लोक का कोई महत्त्व है ही नहीं। यह एकांगी दृष्टिकोण ठीक नहीं है। जिन का लोक बिगड़ जायेगा, उनका परलोक भी बिगड़ जायेगा। धर्म का सच्चा

लक्षण तो यही है कि जिससे लोक और परलोक=अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति होती है, वही धर्म है।

सफलता मिलती है=समाहित मन और स्वसामार्थ्यानुसार, विधि पूर्वक कर्मानुष्ठान के द्वारा। चित्त की चंचलता से तो साधारण लौकिक कार्य भी बिगड़ जाते हैं। दुर्बल-शरीर, दुर्बल-इन्द्रियां, दुर्बल-मन और दुर्बल-चरित्र वाला कोई साधक तो योग-मार्ग में आगे बढ़ ही नहीं सकता।

योग या तप के नाम पर इस शरीर को सुखाने, बिगाड़ने, त्यागने या हेय समझने से बचो। यह दुर्लभ मानव शरीर भोग का उपकरण भी है, अपवर्ग का साधन भी। यही वह दिव्य देवपुरी है, जिसमें देवराज इन्द्र अर्थात् जीवात्मा का निवास और शासन है। सत्य-शास्त्रों में जिन सिद्धान्तों का उल्लेख है, वे सब आचरण का विषय बनने के उपरान्त ही संसिद्धियां प्रदान किया करते हैं। आचरण के लिये साधकों की सबलता—शारीरिक एवं मानसिक दृढ़ता का होना तो अत्यावश्यक है।

दूसरे श्लोक का दूसरा अर्थ ऐसा भी होता है—

"यह सम्पूर्ण सृष्टि उस सविता देव का प्रसव-यज्ञ ही तो है। यहां उत्पत्ति और विकास के सभी कार्य क्रमों में उस दिव्य देव के दर्शन होते हैं। आओ हम भी इन उत्पत्ति

और विकास के कार्य-क्रमों में, अपने-अपने सामर्थ्यानुसार अपना-अपना योग-दान दें, अपना-अपना भाग ग्रहण करें और सम्पूर्ण संसार को उच्चतर सुखों से परिपूर्ण कर दें।

४—सविता देव की महिमा

युक्त्वाय मनसा देवान्—
सुवर्यतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः,
सविता प्रसुवाति तान् ॥३॥

शब्दार्थ—(देवान्) इन सब देवों=उपासकों और साधकों को जो (मनसा) अपनी-अपनी चित्तवृत्तियों के निरोध द्वारा (युक्त्वाय) युक्त पद की प्राप्ति के लिये—ईश्वर से संयुक्त होने के लिये (दिवम्) द्युलोक को (धिया) अपने बुद्धि-कौशल से (सुवर्यतः) उत्तमताओं का वरण करते हुए जो आगे ही आगे बढ़ रहे हैं, (बृहत्-ज्योतिः करिष्यतः) बहुत अधिक प्रकाश=ज्ञान-विज्ञान फैला रहे हैं, (तान्) उन सबको (सविता) वह सबका उत्पादक परमात्मा हो (प्रसुवाति) प्रेरित कर रहा है।

दूसरा अर्थ—

(देवान्) इन देवों को=ग्रह-उपग्रह आदि को जो (मनसा) नियम से (युक्त्वाय) गति करने के लिये (धिया) व्यवस्था पूर्वक (दिवम्) द्युलोक को (सुवर्यतः) सुशोभित

कर रहे हैं, चमचमा रहे हैं, (बृहत्-ज्योतिः करिष्यतः) बहुत अधिक प्रकाश और विज्ञान प्रकाशित कर रहे हैं, (तान्) उनको (सविता) वह महान प्रेरक ईश्वर ही (प्रसुवाति) बनाता और नियमाधीन चलाता है।

तीसरा अर्थ—

प्रश्न—यदि मन और इन्द्रियां प्रबल हों, तब अल्प-सामर्थ्य वाला जीवात्मा उनको अपने वश में कैसे करे?

उत्तर—ईश्वर की सहायता से। यही दर्शाते हैं:— (धिया) बुद्धि से (मनसा) मनोयोग पूर्वक (स्वयंतः) सुख-प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील (देवान) इन्द्रियों को (युक्त्वाय) निरुद्ध करने के लिये (दिवम्) आनन्दमयी= स्वर्गीय (बृहत्-ज्योतिः) महान ज्योति को (करिष्यतः) प्राप्त करके, उसका प्रकाश=व्यवहार करने में संलग्न (तान्) उन उपासकों को (सविता) वह प्रेरक प्रभु ही (प्रसुवाति) प्रेरणा, बल और सफलता प्रदान करता है।

चौथा अर्थ—

जब योगारूढ़ उपासक (मनसा) मनोनिरोध पूर्वक (देवान्) अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को (युक्त्वाय) अपने वश में करके, या ईश्वरीय शक्तियों से अनुप्राणित करके (धिया) ज्ञान-विज्ञान की सहायता से (दिवम्) सर्वोच्च सुखपूर्ण अवस्था को (सुवर्यंतः) प्राप्त

करने के लिये प्रयत्न करते हैं, तब (बृहत्-ज्योतिः करिष्यतः) महान ज्ञान, विज्ञान और प्रकाश के प्रसारक (तान्) उन पुरुषार्थ-परायण जनों को वह (सविता) महान प्रेरक सविता देव ही (प्रसुवाति) प्रकृष्ट सहायता, प्रेरणा, सफलता प्रदान करता है।

विशेष—योगाभ्यास के द्वारा हो उस युक्ति को सीखा जा सकता है, जिससे मनुष्य ईश्वरीय प्रेरणाओं को ग्रहण और ईश्वरीय आदेशों का परिपालन करने के लिये सफल होता है। जो इन्द्रियों के विषय भोगों में लिप्त है, वह योग साधन में सफल न हो सकेगा। जो स्वयं ही आधियों-व्याधियों में ग्रस्त है, वह शोक-सन्तप्त मनुष्य संसार में सुख की वृद्धि नहीं कर सकेगा। संयत-मन, और निर्मल प्रज्ञा के द्वारा ही मानव-जीवन के उच्चतर आदर्श पूर्ण और प्राप्त होते हैं। जो अनधिकारी व्यक्ति परोपकार के मार्ग में प्रवृत्त होते हैं, वे तो ढोंगी या पेशेवर परोपकारी ही होते हैं।

आपुन को भोजन नहीं,
औरन बच्छत छीर
आपुन मन निश्चल नहीं,
और बन्धावत धीर ॥

पांचवां अर्थ—

(दिवम्) दिव्य (सुवर्षतः) सुख की वर्षा करने वाले

(तान्) उन (देवान्) ग्रह-उपग्रह आदि को जोकि (बृहत्-ज्योति करिष्यत:) महान सुख और प्रकाश करने वाले हैं, (मनसा) मनस्-तत्त्व और (धिया) धी: तत्त्व के आधार पर संकल्प शक्ति तथा सुव्यवस्था के योग से (युक्त्वाय) पारस्परिक सहयोग और आकर्षण के लिये (सविता) जगदोत्पादक ईश्वर ही (प्रसुवाति) प्रेरित और नियोजित करता है।

विशेष—सभी प्राणी सुख की अभिलाषा करते हैं। यह जड़ जगत् भी चारों ओर सुख बखेरता-सा दृष्टिगोचर होता है। इस जड़ और चेतन जगत् का मुख्य-उद्देश्य तो सुख की अभिवृद्धि ही है। ये जो सूर्य, चन्द्र, तारागण और ग्रह-उपग्रह ऊपर बहुत दूर, द्युलोक में जगमगा रहे हैं, और संसार में सुख की वर्षा कर रहे हैं, इन सब की सुव्यवस्था "धी:" और "मनस्" तत्त्वों के योग से, वह सुख-स्वरूप सविता देव ही करता है। तभी तो ये सब भी सुख-संवर्धन में अपना-अपना योग-दान देते हैं।

छटा अर्थ:—

(सविता) ईश्वरीय प्रेरणाओं को ग्रहण करके दूसरों को उत्तम प्रेरणा देने में समर्थ जीवात्मा ही (मनसा) अपने मनन और चिन्तन द्वारा (तान्) उन (देवान्) इन्द्रियों को, विद्वानों को, पांच महाभूतों को जड़-तत्त्वों को (युक्त्वाय) संयुक्त, सुसंगठित, सुव्यवस्थित करके (दिवम्) आकाश मण्डल को (धिया) अपने बुद्धि-कौशल द्वारा (सुवर्यत:)

सुखमय बनाता हुआ (बृहत्-ज्योतिः) महान प्रकाश—विज्ञान को (करिष्यतः) बढ़ाता हुआ (प्रसुवाति) नाना प्रकार की रचना करने और प्रेरणा देने में समर्थ होता है।

५—फिर सविता-देव की महिमा

युंजते मन उत युंजते धियो,
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुना विदेक-इत्—
मही देवस्य सवितुः परिष्टुति ॥४॥

शब्दार्थ—(विप्राः) विप्र अर्थात् मेधावी मनुष्य उस (बृहतः) सर्वतोमहान (विपश्चितः सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान (विप्रस्य) ज्ञान-विज्ञानस्वरूप ईश्वर को (युंजते) स्तुति, प्रार्थना और उपासना करते हैं। इस कार्य में वे अपने (मनः) मन को=संकल्प-शक्ति को (उत) तथा (धियः) बौद्धिक-शक्ति=विवेक को भी (युंजते) लगाते हैं, प्रयुक्त करते हैं। [वे अपने मनस् और धीः तत्त्व को ईश्वरीय प्रेरणाओं से युक्त करते हैं। वे अपनी प्रज्ञा को तत्त्व-बोध द्वारा चमकाते हैं। और] (वि-होत्र आ दधे) विविध प्रकार के दान, अग्नि-होत्र आदि यज्ञों, नाना प्रकार के शुभ कर्मों आदि का अनुष्ठान करते हैं। (वयुना विद्-एक-इत्) वह घट-घट वासी, सर्वद्रष्टा, व्यापक प्रभु तो एक ही है। उस (सवितुः) सर्वोत्पादक [illegible] ज्योतिः-

स्वरूप की (परिष्टुतिः) पूरी-पूरी स्तुति तो (महीः) बहुत अधिक है। उस की पूरी-पूरी स्तुति करना किसी के वश में नहीं है।[1]

दूसरा अर्थः—

(विप्राः) मेधावी लोग (बृहतः) अपने से बड़े (विप्रस्य) प्रभु के विशेष प्रेमी (विपश्चितः) पूर्ण आप्त=तत्त्वज्ञानी=वासना-रहित विद्वान् के प्रशिक्षण के अनुसार (युंजते) योग साधन आदि शुभ कर्मों का अनुष्ठान करते हैं उत) और अपने (मनः) मनस एवं (धियः) बुद्धिः तत्व को भी (युंजते अपना सहायक बनाते हैं। वे (वयुनावित्) लोक-व्यवहारों के ज्ञाता (एक इत्) अकेले-अकेले ही (वि-होत्र आ-दधे) नाना प्रकार के शुभ आयोजनों को प्रसारते-और सफल बनाते है। (सवितुः देवस्य) सविता देव के भक्तों=योगियों को (परिष्टुतिः) पूरी-पूरी स्तुति तो (महीः इत्) बहुत ही अधिक है।[2]

तीसरा अर्थः—

जैसे (विप्राः) विद्या के देने-लेने में समर्थ मेधावी महात्मा (बृहतः विपश्चितः विप्रस्य) अपने से अधिक श्रेष्ठ

१. सकल धरा कागद करूँ, मसि करूँ जल-राई।
सकल तरु की लेखनी, हरिगुण कथा न जाई।।

२. सुख देवें दुःख को हरें, दूर करें अपराध।
कहे कबीर वह कब मिले परम स्नेही साध।।

योगियों और विद्वानों के सत्संग से (युंजते) लाभ उठाते हैं, इस कार्य में वे (मनः उतः धियः युंजते) अपने मन और बुद्धि को भी लगाते हैं (वि-होत्र-आ-दधे) नाना प्रकार के यज्ञों, शुभ कर्मों, प्रयासों को भी करते हैं, (वयुनावित् एक एव) तत्वज्ञान को प्राप्त करके अकेले-अकेले ही रहना, निःसंग=केवल होना ही उचित है। उनकी यह निःसंगता वा ध्येय निष्ठा (इत्) ही (सवितुः देवस्य) सर्वजगदोत्पादक प्रभु को (महीः परिष्टुतिः) बड़ी और पूरी स्तुति है। उनका तो सारा जीवन ही यज्ञ रूप और स्तुति स्वरूप है।

विशेष—इस अर्थ में "विप्रस्य बृहतो विपश्चितः" वाक्य सद्गुरू का लक्षण प्रस्तुत करता है। ऐसा उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है:—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

[मुण्डकोपनिषद्—१।२।१२]

वह जिज्ञासु ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिये समित्पाणिः=श्रद्धा और जिज्ञासा को सूचित करने के लिये हाथ में समिधा यज्ञ की भेंट-सामग्री आदि लेकर वेदज्ञ और ईश्वर भक्त गुरु के समीप जाये।

चौथा अर्थ—

(विप्राः) योगीजन (मनः उत धियः) अपने मनस और धीः तत्त्व को (बृहतः विपश्चितः) महान और सर्वज्ञ (विप्रस्य) ईश्वर के [मनस् और धीः] तत्त्व के साथ (युंजते) जोड़ते हैं (युंजते) बारम्बार जोड़ते हैं। (वयुनावित्-एक एव) वह प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों का ज्ञाता एक अकेला ही-बिना किसी दूसरे की सहायता के (विहोत्र-आ-दधे) नाना प्रकार के शुभ कर्मों को-दान और आदान की विविध प्रणालियों को विस्तृत करता है। (सवितुः देवस्य परिष्टुतिः महीः इत्) उस सकल जगदोत्पादक देव की पूरी-पूरी स्तुति तो बहुत अधिक है ही। [उस की पूरी स्तुति करना हमारे वश में नहीं।]

विशेष—

ध्यान लगा कर देखो,
उस ईश्वर को प्रभुताई को।
बात-बात में पाओगे,
उस को महिमा चतुराई को॥

६—ईश्वर के अमृत-पुत्र

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः
विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥५॥

शब्दार्थ—मैं (वाम्) तुम दोनों—गुरु और शिष्य, पति-पत्नी, अथवा मन और आत्मा, या प्राण और मन को (नमोभिः) नमस्कारों और आत्म-समर्पण के व्यवहारों द्वारा पूर्व्य म् सत्य-सनातन (ब्रह्म) ज्ञान-विज्ञान स्वरूप, सर्वतोमहान, सर्वोत्पादक, दिव्य, ईश्वर के साथ (युजे) जोड़ता हूं। (सूरेः) सूर्य के समान तेजस्वी और स्वाव-लम्बी विद्वान् के (पथ्या इव) मार्ग की भांति. उत्तम विद्वानों के निर्देशों और मार्गों का अनुकरण करते हुए [तुम दोनों] (वि-श्लोक एतु) उत्तम यश को प्राप्त करो। (श्रण्वन्तु) [कान खोलकर] सुनो, (विश्वे) वे सब मनुष्य (अमृतस्यपुत्राः) अजर, अमर और आनन्द स्वरूप ईश्वर के पुत्र हैं। (ये) जो (दिव्यानि धामानि आ-तस्थुः उच्चतर अवस्थाओं=भूमिकाओं=सिद्धियों को प्राप्त हो चुके हैं, प्राप्त हो रहे हैं. प्राप्त होने वाले हैं।

दूसरा अर्थ—

मैं (वाम्) तुम दोनों गुरु और शिष्य को (नमोभिः) नमस्कार आदि उत्तम व्यवहारों के द्वारा (पूर्व्यम्) सत्य-सनातन (ब्रह्म) वेदज्ञान के साथ (युजे) संयुक्त करता हूँ। (वि-श्लोक-एतु) विद्वान् बनकर यश प्राप्त करो, (इव) जैसेकि (सूर्यः) सूर्य के समान तेजस्वी, मर्यादा-पालक (पथ्या) पथिक गण सुपथ पर चलते हैं। अथवा (सूरेः श्लोकः) विद्वान् का यह श्लोक (पथ्या-इव-वि-एतु) उत्तम

मार्ग की भाँति तुम्हें विशेषरूप से प्राप्त हो। (ये दिव्यानि-धामानि आ—तस्थुः) जो दिव्य-धामों को प्राप्त हो चुके हैं, प्राप्त हो रहे हैं, प्राप्त होंगे एवमेव (अमृतस्य पुत्राः) जो ईश्वर के अमृत-पुत्र, आस्तिक जन हैं, वे (विश्वे श्रण्वन्तु) सभी इस कथन को सुनें। [कोई ईश्वर से विमुख न हो। कोई उत्तम नियमों को न तोड़ें। कोई सुपथ को न छोड़ें।][1]

तीसरा अर्थ—

हे द्यावा-पृथिवी (वाम्) तुम दोनों के अन्तर्यामी (पूर्व्यम्) सत्य-सनातन (ब्रह्म) ब्रह्म को मैं (नमोभिः) नमस्कारों के साथ (युजे) आत्म-समर्पण करता हूं। (सूरेः पथ्या-इव-वि-श्लोक-एतु) सूर्य के मार्ग के समान मेरा यश विशेष रूप से फैले [मेरी इस कामना को] (अमृतस्य विश्वे पुत्राः शृण्वन्तु) अजर, अमर परमेश्वर के सभी पुत्र भली प्रकार सुनलें और (ये दिव्यानि धामानि आ तस्थुः) वे सब, जो उच्चतर भूमिकाओं का सफलताओं को प्राप्त कर चुके हैं, [मेरी सहायता करें।]

चौथा अर्थ—

(पूर्व्यम् ब्रह्म) इस सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व भी जो ब्रह्म वर्तमान था, उस (वाम्)-सत्य, शिव और सुन्दर को मैं (नमोभिः युजे) नमस्कारों के द्वारा उपासता हूं। (वि-

---

१. राह बेचारी क्या करे ? पन्थी न चले संभार।
अपना मार्ग छोड़कर, फिर उजार-उजार॥

श्लोक-एतु) [मेरी कामना है कि] विविध प्रकार का यश मुझे मिले (सूरेः पथ्या इव) जैसे कि किसी शूरवीर को अपने जीवन-मार्ग में [यश मिलता है।] हम-आप (विश्वे अमृतस्य पुत्राः) सभी ईश्वर के पुत्र हैं। (ये दिव्यानि धामानि आतस्थुः) जो लोग दिव्य-धामों उच्चतर सफलताओं को प्राप्त कर चुके हैं [वे सब मेरी इस पुकार को] (शृण्वन्तु) सुनें।

विशेष—शास्त्रीय वचनों के विविध प्रकार के अर्थों को देखकर, पाठकों को किसी प्रकार के विभ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। यह विविध प्रकार के अर्थों की प्रतीति शब्द-शास्त्र का दूषण नहीं, अपितु भूषण है। जब कोई मनुष्य बहुश्रुत और विशेष अनुभवी होता है, तब श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार के आधार विविध प्रकार के अर्थ-दर्शन किया करता है उसे एकता में अनेकता और अनेकता में एकता के दर्शन भी होते ही हैं।

सच्चे धर्म-शास्त्रों और उनके अर्थों में कोई तात्त्विक विरोध नहीं होता। शास्त्रों की विशेषता यह है कि थोड़ी-योग्यता वालों को भी उनके पठन-पाटन से सन्तोषप्रद बोध मिल जाता है। अधिक योग्यता वाले तो शास्त्रों के गम्भीर, तात्विक और रहस्यमय अर्थों को ही प्राप्त किया करते हैं। यही इस नाना विद्या अर्थ-प्रतीति की विशेषता है कि सभी श्रेणियों के पाठकों को शास्त्र-विचार

में एक सी रुचि बनी रहती है। निरन्तर पठन-पाठन के अभ्यास से वे शास्त्रों के वास्तविक और सम्पूर्ण रहस्यों को प्राप्त कर ही लेते हैं। शास्त्रीय वचनों में जो विचार-बीज सुरक्षित होते हैं और उत्तम अधिकारियों के सम्मुख सुस्पष्ट हो जाते हैं, यह दूसरी विशेषता इस शैली की है।

७—मानसिक एकाग्रता और शुद्धता के उपाय

अग्निर्यत्राभिमथ्यते,
वायुर्यत्राधिरुध्यते।
सोमो यत्रातिरिच्यते,
तत्र संजायते मनः ॥६॥

शब्दार्थ—(यत्र) जिस अवस्था में (अग्निः) सबके अग्रणी, जीवन, ज्योति और जागृति के दाता, परमपिता परमात्मा का निज नाम "ओ३म्" (अभिमथ्यते) जपा जाता है। (यत्र) जहां पर (वायुः अधिरुध्यते) प्राण-तत्त्व का संरक्षण, वायु का निरोध, प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है, (यत्र) जहां पर (सोमः) आनन्दप्रद भक्ति रसामृत (अतिरिच्यते) अधिकता से प्रगट होता है, (तत्र) उस अवस्था में (मनः) मन (संजायते) शुद्ध, स्निग्ध, शान्त, सुखी और एकाग्र हो जाता है।

दूसरा अर्थ—

जहां, जब, जिस अवस्था में अग्नि-होत्र नियमपूर्वक

किया जाता है, जहां प्राण-तत्त्व का संवर्धन और प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है, जहां सोमरस अधिक मात्रा में टपकाया, निचोड़ा, छाना जाता है, वहाँ मन एकाग्र, सम-दर्शी और शान्त हो जाता है।

तीसरा अर्थ—

जब सबके अग्रणी ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना की जाती है, शुद्ध वायु-विहार और वायु का उपसेवन किया जाता है, जब उपासक को अपने अन्तरात्मा से ही सुख, प्रकाश और आदेश मिलने लगता है, तब मन शुद्ध, शान्त और एकाग्र हो जाता है।

चौथा अर्थ—

जब अग्निस्वरूप, पाप-ताप नाशक प्रभु का नाम जपा जाता है। शरोर की प्रत्येक नस-नाड़ो में वायु का संचरण होता है, और भक्ति-रस-धारा का स्रोत फूटता है, तब मन शुद्ध, एकाग्र, प्रसन्न होता है।

पांचवां अर्थ—

जहाँ पर अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिए, उस मूला-धार-चक्र में अग्नि के प्रदीप्त होने पर, जहाँ पर वायु को रोकना चाहिये, देह के उस भाग में जहां मूलाधार-चक्र है और जहां मानस-अग्नि को प्राण-वायु की धौंकनी से प्रदीप्त करके उसे मूलाधार-चक्र से सुषम्ना-नाड़ी तक पहुँचाया

जाता है। मानस-अग्नि के मन्थन और प्राणायाम के अभ्यास द्वारा सुषम्ना-नाड़ी के द्वार को खोला जाता है, जब योगाभ्यासियों को अपनें अनुष्ठानों में अमृत-पान का-सा आनन्द मिलने लगता है। तब मन, शुद्ध, शान्त, एकाग्र, समतापूर्ण और वशीभूत हो जाता है।

विशेष—इस श्लोक के अग्नि, वायु और सोम शब्द के अर्थ-परिवर्तन और विशेष मनन के द्वारा और भी कई प्रकार के उपयोगी एवं सुसंगत अर्थों की प्राप्ति की जा सकती है। प्रकरण को देखते हुए यहां योग-विद्या और ईश्वर-भक्ति-प्रधान अर्थों का अधिग्रहण ही अधिक उचित है।

जब "सोम" पद का विचार स+ओम्+अ=सोम के रूप में किया जाता है, तब तो सोम में ही गुप्त ओङ्कारोपासना का एक नया सूत्र और ओङ्कारोपासना का गुप्त सिद्धान्त एवं ओङ्कार के प्रत्यक्षीकरण का नया मार्ग वा उपाय भी उपासकों को मिल जाता है।

यहां जिस अग्नि-मन्थन का उल्लेख है, वह मुख्यतया तो ओङ्कार-जप ही है। प्राणायाम से मन की शुद्धता और एकाग्रता-सम्पादन का सिद्धान्त नये और पुराने सभी योगियों में सर्वमान्य है। सोम में भी "ओम्" का दर्शन और विचार विशेष अनन्दप्रद है।

श्री आचार्य जी सिद्धान्तालंकार कृत अर्थ ऐसा है—

"जिस दिव्य-धाम में तुम हो, मेरा मन भी उस दिव्य-धाम में जा पहुँचे। ऐसा दिव्य-धाम जिसमें अग्नि मथी जाती है, प्रचण्ड हो जाती है। वायु जुड़ जाता है, प्रबल हो जाता है और जिसमें सोम का अतिरेक हो जाता है। तो वह लबालब भर जाता है, अर्थात् सोम को जब निचोड़ा जाता है, तो वह लबालब भर जाता है। सोम-याग में जैसे अग्नि, वायु और सोम की आवश्यकता होती है। वैसे समाधि के दिव्य-धाम रूपी याग में मथने पर परमात्म-ज्योति प्रकट होती है। यही मानो अग्नि है। और प्रसाद-भाव लबालब भर जाता है। यही मानो सोम-रस है।"

८—उपासना द्वारा विघ्नों का निवारण

सवित्रा प्रसवेन
जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम्।
तत्र योनिं कृण्वसे,
न हि ते पूर्तमक्षिपत् ॥७॥

शब्दार्थ—प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि (सवित्रा प्रसवेन) गुरुजन-समुदाय से शिक्षा लेकर, उनकी अनुभूत उपासनापद्धति से (पूर्व्यम्) सत्य-सनातन (ब्रह्म) ब्रह्म को (जुषेत) उपासे, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना निरन्तर करता रहे। यदि तू (तत्र) उस सत्य सनातन ब्रह्म में ही (योनिम् कृण्वसे) अपना आश्रय बनायेगा, तब

(हि) समय से पूर्व (ते) तेरा (पूर्तम्) जीवन (न अक्षिपत्) न नष्ट होगा। अथवा तेरे शुभ कर्मों में कोई विघ्न न होगा।

९—आसन-विधिः

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं,
हृदि इन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्,
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥८॥

शब्दार्थ—[प्रत्येक उपासक को चाहिए कि पद्मासन या सिद्धासन की मुद्रा में बैठे, और] (त्रिरुन्नतम्) शिर, गर्दन एवं वक्षस्थल को एक सीध में उन्नत रखते हुए अपने (शरीरम्) शरीर को (समम्) सीधा, ढीला और सरल (स्थाप्य) स्थिर करके (मनसा) संकल्प द्वारा (इन्द्रियाणि) अपनी सब ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को (हृदि संनिवेश्य) अपने हृदय में स्थापित करके, [सब विषय-वासनाओं को हटाकर और अपने चित्त की वृत्तियों का निरोध करके (ब्रह्म-उडुपेन) प्रभु नाम को नौका के द्वारा (विद्वान्) प्रत्येक विद्वान् (सर्वाणि) सब (भयावहानि) भयंकर (स्रोतांसि) नदियों को, (प्रतरेत) सावधानी से पार करे।

विशेष—संसार-सागर को पार करने के लिये ईश्वर के

"ओ३म्" नाम का जप वैसा ही सहायक होता है, जैसाकि किसी नदी-नाले को पार करने के लिए नाव का उपयोग।

यह मोह-माया-ताप-मय,
तरना जिसे संसार हो।
बैठे प्रणव-जप नाव में,
सुख से सहज में पार हो॥

यह "ओ३म्" अक्षर ईश का
शुभ नाम है, गुण-ग्राम है।
धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का,
दाता है, सुख का धाम है॥

सर्वज्ञ को, सर्वेश को,
अजरामर को नरवरो।
निशि-दिन जपो, हरदम भजो,
तन, मन व धन अर्पण करो॥

ईश्वर के सम्यक्-ज्ञान से,
इस ओ३म्-जप-विज्ञान से।
मिट जायेंगे सन्ताप सब,
विनसेंगे पाप-कलाप सब॥

प्रभु-भक्त शुभ-समुदाय का,
जीवन सफल हो जायेगा।

जप-ओ३म्-नाम-ललाम का,
सुख-सम्पदा बरसायेगा ॥

तजकर अजा को ले लिया,
जिसने सहारा ओ३म् का ।
जो मनसा-वाचा-कर्मणा,
है भक्त प्यारा ओ३म् का ॥

वह अमर पद को पायेगा,
भव-सिन्धु से तर जायेगा ।
ईश्वर-विमुख-समुदाय का,
जीवन विफल हो जायेगा ॥

निज रूप को पहिचान लो,
निज लक्ष्य को भी जान लो ।
मोह-बन्धनों को तोड़ दो,
अभिमान करना छोड़ दो ॥

सुख-सम्पदा संसार की,
घटने न पाये देखना ।
सम्बन्ध प्यारे ओ३म् से,
हटने न पाये रे मना ॥

बहुत से विचारकों ने इस संसार को नदी या सागर के रूप में ही देखा है और दर्शाया है कि योग-साधन, नाम-जप, ईश्वराराधन आदि उपायों से ही इस संसार सागर अथवा मानव-जीवन महानद को पार किया जा सकता है।

इसी भाव का निदर्शक एक प्रसिद्ध श्लोक यह है :—

आशा-तृष्णमय

आशा नाम नदी मनोरथ जला
तृष्णा तरंगाकुला;
राग-ग्राहवती वितर्क विहगा
धैर्य - द्रुम - ध्वंसिनी।
मोहावर्त-सुदुस्तराति गहना
प्रोतुंग - चिन्तातटी,
तस्याः पारगता विशुद्धमनसा
नन्दन्ति योगीश्वरा ॥

अर्थ—आशा नाम की एक नदी है। उसमें मनोरथ ही जल के समान बहते हैं। तृष्णा की तरंगों से वह नदी बहुत ही आकुल-व्याकुल रहती है। राग रूप ग्राह उस नदी में रहता है। वितर्क रूपी पंछी उस नदी में उड़ते हैं। वह नदी ऐसी वेगवती है कि धैर्य रूपी वृक्ष को उखाड़ देती है। उसमें मोह रूपी भँवर पड़ते रहते हैं। उसे पार करना बहुत कठिन है। वह बहुत गहरी है। उसके चिन्तारूपी किनारे बहुत ऊँचे-ऊँचे हैं। विशुद्ध मन वाले योगीजन जब उसे पार कर लेते हैं, तब उन्हें विशेष आनन्द की प्राप्ति होती है।

इस विषय में श्री शंकराचार्य जी का कथन ऐसा है—

अपार संसार समुद्रमध्ये
सम्मज्जतो मे शरणं किमस्ति ?
गुरोः कृपालो कृपया वदैतद्
विश्वेश पादाम्बुजदीर्घ नौका ॥

अर्थ—प्रश्न—हे दयामय गुरुदेव ! कृपा करके यह बताइये कि अपार संसार रूपी समुद्र में मुझ डूबते हुए के लिये आश्रय क्या है ?

उत्तर—विश्वपति परमात्मा के [चरण कमल रूपी] आश्रय में रहना ही इस संसार सागर के संतरण में जहाज के समान सहायक होता है ।

नोट—भागवान् के चरण वा हाथ आदि कथन करना, यह मानव-भाषाओं की शाब्दिक दरिद्रता का ही परिचायक है । सभी भाषाओं के नये और पुराने सभी उत्तम ग्रन्थों में ऐसे कथन भरे पड़े हैं । इस उपनिषद् में भी आगे ऐसे कथन बहुत हैं ।

१०—प्राणायाम-विधिः

प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्त चेष्टः,
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत ।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं,
विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः ॥६॥

शब्दार्थ—साधक को चाहिए कि (इह) इस जीवन में ही (प्राणान्-प्रपीड्य) प्राणायाम का अभ्यास करके

(संयुक्त चेष्टः) युक्ताहार-विहारवाला बने। (क्षीणे प्रायो) जब प्राणों को अन्दर रोकने में कठिनाई होने लगे (नासिकयोच्छ्वसीत) तब उनको नाक के छिद्रों द्वारा बाहिर निकाले। (एवम्-वाहम्) इस शरीर रूपी वाहन को (विद्वान्) बुद्धिमान् (अप्रमत्तः) प्रमाद-रहित होकर (मनः) मनोयोगपूर्वक (दुष्टाश्वयुक्तमिव) दुष्ट-अश्व-युक्त-रथ की भांति (धारयेत) धारण करे, संचालित करे।

विशेष—यह उपदेश इसी रूप में कठोपनिषद् [३।६] में और गीता [६।१७] में भी है। मनुस्मृति [६।६१] में तथा योग-दर्शन [२।३०,३२] में जो यमों और नियमों का उपदेश है, वह भी प्रकारान्त से यही है।

इस विषय का विस्तृत उल्लेख मैंने अपनी पुस्तक "यम-नियम-प्रदीप" [सदाचार-चन्द्रिका] में किया है। सदाचारवाद के प्रशिक्षण, विश्लेषण और अनुष्ठान में वह बहुत उपयोगी पुस्तक है। उसे कई संस्थानों के नैतिक-प्रशिक्षण-पाठ्य-क्रम में भी सम्मानित किया जा चुका है।

संयम वा आत्म-नियन्त्रण का यह मार्ग कुछ प्रयत्न-साध्य तो अवश्य है, परन्तु असम्भव नहीं है। अभ्यास और वैराग्य द्वारा इस मार्ग की कठिनाइयों को दूर किया जा सकता है। उपासना-कर्म में सफलता प्राप्ति की कुंजी और उन्नत-जीवन की आधार-शिला भी यही है।

कुछ लोग विविध प्रकार से नैतिक-जीवन के उत्तम

नियमों को तोड़ते हैं। वे यम और नियमों का पालन नहीं करते। निष्पापता, निर्दोषता, सात्विकता, मानसिक संशुद्धि और एकाग्रता-सम्पादन की न वे कोई इच्छा करते हैं, न कोई योजना बनाते हैं। फिर भी वे मानसिक और आत्मिक-जगत् की उच्चतर संसिद्धियों की प्राप्ति की अभिलाषा रखते हैं। कुछ लोग तो झूठ-मूठ में ही सफलता प्राप्ति की डींगें भी मारा करते हैं। ऐसे लोगों के सम्पर्कों से ही भोले-भाले जिज्ञासु जन वारम्बार ठगे जाते हैं।

साखी लाये बनायकर, इत-उत अच्छर काट।
कहे कबीर कब तक जिये, झूठी पत्तल चाट॥

एवमेव—

मन मलीन तन सुन्दर कैसे ?
विष-रस-भरे कनक-घट जैसे॥

तथा च—

माला तो कर में फिरे, और जिह्वा मुख मांहि।
मनवा तो चहुं दिशि फिरे, यह तो सिमिरन नांहि॥
माला लीनी काठ की, धागे लेई पिरोय।
मन में घुंडी पाप की, ओ३म् जपे क्या होय ?

११—उपासना का स्थान

समे शुचौ शर्करा वह्नि-बालुका-
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभि।

मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने,
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥१०॥

शब्दार्थ—(सम) समतल (शुचौ) शुद्ध (शर्करा) क्षार, बदबू, (वह्नी) आग और (वालुका) रेत, धूल से (विवर्जिते) रहित, (शब्दजलाश्रयादाभः कल-कल ध्वनि करने वाले किसी झरने, नदी-नद या जलाशय आदि के समीप (मनोऽनुकूले) मन के अनुकूल, (न तु चक्षुपीडने) और आंखों को पीड़ित न करने वाले स्थान में (प्रयोजयेत्) जप, ध्यान और उपासना एवं योग का अभ्यास करना चाहिये।[1]

विशेष—जप, उपासना, ईश्वर के ध्यान और प्राणायाम आदि योग-क्रियाओं के अभ्यास के लिए स्थान का प्रबन्ध भली प्रकार सोच-विचार कर करना चाहिए। स्थान बदल-बदल कर अभ्यास करने से सफलता में देर लगती है। इन कामों के लिए कहीं दूर जंगलों-पहाड़ों में जाना, घर-वार का परित्याग करना भी आवश्यक नहीं है। स्थान का सुविधाजनक, कोलाहल आदि से रहित, मनोऽनुकूल होना आवश्यक है। ये सब आयोजन अपने ही घर पर भी हो सकते हैं।

---

१. अगर तेरे दिल को है यकसूई हासिल,
तो बाजार में भी तू खिलवत-नशीं है।
अगर दिल गिरफ्तार हो मखमसों में,
जो जंगल भी बाजार से कम नहीं है॥

जब साधना में सफलताओं का आरम्भ होता है तब साधकों को अनुक्रमपूर्वक योग की उच्चतर भूमिकाओं को प्राप्ति होने लगती है और कुछ दिव्य, रहस्यपूर्ण वा विचित्र संकेत भी मिलने लगते हैं। किसी को कभी रोचक या भयानक दृश्य दिखाई देते हैं। कभी खुशबू और कभी बदबू का भास होता है। ऐसा होने पर घबराना नहीं चाहिये। अधिक उच्चतर भूमिकाओं का आरम्भ होने पर ये बातें अपने आप ही शान्त हो जाया करती हैं। अनुभवी साधकों को ये सूचनायें नये साधकों के लिये विशेष उपयोगी हैं।

ऐसे संकेतों, शब्दों और दृश्यों का कोई नियत क्रम नहीं है। पात्र-भेद से ये सब बातें कई प्रकार की हैं। कोई बात किसी के अभ्यास काल में कुछ पहले घटित हो जाती है, किसी के अभ्यास में बाद में। अथवा कोई बात किसी के अभ्यास में घटित होती है, और किसी के अभ्यास में नहीं। वास्तव में तो ये सब बातें अपने ही मनोगत विचारों के रहस्यपूर्ण खेल और सूक्ष्मतम तन्मात्राओं के प्रपंच ही होते हैं। मनोविज्ञान के अनुसार इनका तात्त्विक-विचार एकसा ही है। शुभ और अशुभ संस्कारों के मैल इसी प्रकार धुला करते हैं।

जब साधक के सामने कोई दुविधा आ खड़ी होती है। तब सुयोग्य पथ-निर्देशक के अभाव में साधक का अपना

अनुभव और अन्तरात्मा ही उसका पथ-निर्देश करने लगता है।

१२—योग-सिद्धि के आरम्भिक लक्षण

नीहारधूमार्कानिलानलानां,
खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरः सराणि,
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥११॥

शब्दार्थ—योगाभ्यास में जब (नीहार) कोहरा, (धूम) धुंआं, (अर्क) सूर्य, (अनिल) हवा (अनल) आग (खद्योत) जुगनू, (विद्युत) बिजली, (स्फटिक) स्फटिक-मणि, बिल्लौर (शशीनाम्) और चन्द्रमा आदि के (रूपाणि) रूप (पुरःसराणि) स्पष्ट दिखाई देने लगते है, तब (एतानि) ये (ब्रह्मणि) ब्रह्म, प्रकृति, जीवात्मा-स्वरूप, ज्ञान और ईश्वर की (अभिव्यक्तिकराणि) अभिव्यक्ति कराने वाले होते हैं।

विशेष—इन रहस्यों और संकेतों के विषय में थोड़ा उल्लेख ऊपर कर दिया गया है। ऐसे लक्षणों के प्रकट होने पर अधिक तत्परता, पवित्रता और निडरता के साथ अभ्यास के समय को बढ़ाते रहना चाहिये। आलस्य-प्रमाद न होने पाये। बुराइयों से कोई सम्पर्क या समझौता न किया जाये। क्योंकि कोईछोटी-सी भूल-चूक भी सारी

साधना को बिगाड़ सकती है। फिर आरम्भ से नई साधना करनी पड़ जाती है।

मनवा तो हंसा भया, उड़कर चला आकाश।
ऊपर से ही गिर पड़ा, यह माया के पास॥

१३—योगी के लक्षण

पृथ्वि-अपतेजोऽनिल खे समुत्थिते,
पंचात्मके योग-गुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो, न जरा, न मृत्युः,
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥१३॥

शब्दार्थ—जब योग-साधन करने वाले को (पृथ्वि) पृथिवी, (अप्) जल (तेजः) अग्नि (अनिल) वायु (खे) आकाश इन (पंचात्मके) पाँच महाभूतों के संयोग से बने हुए इस दृश्य-जगत् का (योग-गुणे-प्रवृत्ते) योग-साधन द्वारा बढ़ी हुई शक्तियों से यथार्थ बोध प्राप्त हो जाता है, इन पांच महाभूतों पर और इनकी पांच तन्मात्राओं पर अधिकार प्राप्त हो जाता है, तब उस (योगाग्निमयं शरीरम्-प्राप्तस्य) योग-साधन की अग्नि=शक्ति से युक्त शरीर को प्राप्त करने वाले (तस्य) उस योगी को (रोगः न) कोई रोग नहीं होता, (जरा न) बुढापा नहीं होता, उसकी तो (मृत्युः न) मृत्यु=अकाल-मृत्यु भी नहीं होती।

विशेष—योग-साधन से उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति,

सामर्थ्य की वृद्धि, रोगों की निवृत्ति तो होती ही है, मन भी एकाग्र और निर्मल हो जाता है।

१४—योग-सिद्धि के आरम्भिक लाभ

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं,
वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च
गन्धः शुभ मूत्रपुरीषमल्पं
योग-प्रवृत्ति प्रथमां वदन्ति ॥१३॥

शब्दार्थ—(लघुत्वम्) शरीर का हल्कापन, स्फूर्ति, (आरोग्यम्) आरोग्य (अलोलुपत्वम्) योगवाद और लालच का त्याग, (वर्णप्रसादम्) रंगरूप का निखार (च) और (स्वर-सौष्ठवम्) स्वर को शुद्धता एवं मधुरता, (शुभः गन्धः) शरीर और श्वास-प्रश्वास में उत्तम गन्ध —सुगन्ध, (अल्पम्) थोड़ा (मूत्र पुरीषम्) मूत्र और मल ये (प्रथमाम्) आरम्भिक (योग-प्रवृतिम्) योग-प्रवृत्ति को (वदन्ति) कहते हैं=दर्शाते हैं।

१५—योग-साधन के विशेष लाभ

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं,
तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही,
एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥१४॥

शब्दार्थ—(यथा एव) जिस प्रकार कि (बिम्बम्) [सुवर्ण आदि किसी चमकदार धातु के पात्र की] चमक (मृदया) धूल से (उपलिप्तम्) लिप्त होती है=छिप जाती है (तत्) और वह (सुधान्तम्) सुधारने पर फिर (तेजोमयंभ्राजते) तेजोमयी होकर चमकती है (तद् वा) उसी प्रकार (देही) [साधक की देह में रहने वाला] जीवात्मा अपने (आत्मतत्त्वम्) आत्मतत्त्व को=यथार्थ स्वरूप को (प्रसमीक्ष्य भली प्रकार देखकर (एकः)एकाग्र, केवली, संग-दोष-रहित, आत्माराम, (कृतार्थः) कृतार्थ और (वीतशोकः) शोक-रहित (भवते हो) जाता है।

१६ — ईश्वर-दर्शन

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं,
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः। १५।।

शब्दार्थ — (यदा) जब (युक्तः) योगी (इह) इस जीवन में ही (आत्मतत्त्वेन) आत्मतत्त्व के द्वारा (ब्रह्म-तत्त्वम्) ब्रह्म-तत्त्व को = ईश्वर को (दीप-उपमेन) दीपक की उपमा के समान = जैसे कि दीपक की सहायता से अन्धकार में देखते हैं, उसी प्रकार आत्मा की सहायता से ईश्वर को (तु) भी, स्पष्ट (प्रपश्येत्) देख लेवे, तब

उस (अजम्) अजन्म (ध्रुवम्) नित्य, सुस्थिर (सर्वंतत्त्वैर्विशुद्धम्) सब तत्त्वों से बढ़कर शुद्ध = श्रेष्ठ (देवम्) दिव्य, ज्योतिस्वरूप को (ज्ञात्वा) जानकर (सर्वंपाशैः) [जन्म-मरण आदि के] सब बन्धनों से (मुच्यते) छूट जाता है।

१७ — ईश्वर का स्वरूप

एष ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः,
पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः, स जनिष्यमाणः,
प्रत्यंजनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥१६॥

ईश्वर-दर्शन की सिद्धि प्राप्त करके कोई योगी अपने प्रत्यक्ष-दर्शन के आधार पर करता है :—

शब्दार्थ — (ह) निस्सन्देह (एषः देवः) वह ज्योतिस्वरूप, दिव्यदेव यही है, जोकि (प्रदिशोऽनुसर्वाः) सभी दिशाओं-उपदिशाओं में व्यापक है, [दिशाओं—उपदिशाओं का विस्तारक भी वही है।] (ह) निस्सन्देह यही (पूर्वः) सत्य, सनातन है और इस सृष्टि को उत्पत्ति से भी पूर्व था, (जातः) यह तो प्रसिद्ध ही है, प्रत्यक्ष ही है (स उ गर्भे अन्तः) वह यही इस सृष्टि के अन्दर और इस की सम्पूर्ण निर्माण-प्रक्रिया में भी है। (सः एव जातः) वह यही भूतकाल में था, वही अब है और (सः जनिष्यमाणः) वही भविष्य काल में तथा भावी प्राणियों और

पदार्थों में भी है। [ईश्वर तो सदैव एक रस ही रहता है। भूत, वर्तमान् और भविष्य-काल के बन्धन ईश्वर के लिये नहीं हैं। एक ही अखण्ड काल के ये तीन काल-विभाग तो जीवात्माओं ने अपने लोक-अवतार के लिये बना रखें हैं।] वह (प्रत्यं जनान्) सब प्राणियों और पदार्थों में (तिष्ठति) मौजूद है और वह (सर्वतोमुखः) सब ओर मुख वाला, सब कुछ देखने वाला है।

१८ — नमस्कार

यो देवो अग्नौ यो अप्सु,
यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु,
तस्मै देवाय नमो नमः ॥१७॥

शब्दार्थ — (यः) जो (देवः) ज्योतिस्वरूप ईश्वर (अग्नौ) आग में व्यापक है, (अप्सु) जल में व्यापक है, (यः यः) और जो (विश्वम् भुवनम्) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में (आविवेश) व्यापक हो रहा है। (यः) जो (जो) (ओषधीषु) ओषधियों में भी है और (यः वनस्पतिषु) वनस्पतियों में भी (तस्मै) उस सब के सर्वोपरि आरध्य देव को हम (नमः नमः) वारम्बार नमस्कार करते हैं।

दूसरा अध्याय समाप्त

तीसरा अध्याय

१ — अमर-जीवन

य एको जालवानीशत ईशनीभिः,
सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च,
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१॥

शब्दार्थ :— (यः) जो (एकः) एक अकेला ही (जालवान्) कर्म-भोग-चक्र का संचालक, जन्म-मरण के बन्धन-जाल का विधाता ईशनीभिः) अपनी सनातन-शासन-शक्तियों के द्वारा, हां: अपनी (ईशनीभिः) [नित्य और अचूक] शासन-शक्तियों के द्वारा ही (सर्वान्) सब (लोकान्) लोकों को = इस स्थूल और सूक्ष्म जगत् को (ईशत) अनुशासित करता है, (च) और (यः) जो (एकःएव) एक, अकेला ही, बिना किसी दूसरे की सहायता के उदभवे — सम्भवे) संसार के उदय और अस्त [विकास और विलय = उपादान कारण से दृश्य-जगत् के निर्माण एवं दृश्य-जगत् के उपादान कारण में परिवर्तन का निमित्तकारण है । उसको और उसके]

(एतद्) इस रहस्य को (ये) जो विद्वान् (विदुः) जानते हैं, सब प्रकार के दुःखजालों से छूट जाते हैं।[१]

२— ईश्वर एक ही है।

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः,
य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यंजनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले,
संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥२॥

शब्दार्थ — (हि) निस्सन्देह (रुद्रः) दुष्टों को रुलाने वाला, न्यायकारी ईश्वर तो (एकः) एक ही है। (न द्वितीयाय तस्थुः) उस एक से भिन्न किसी दूसरे की उपासना में तो विद्वान् कभी बैठे ही नहीं [किसी दूसरे ईश्वर का प्रतिपादन तो किसी विद्वान् ने कभी किया ही नहीं।] (यः) जो (ईशनीभिः) अपनी सनातन प्रशासक शक्तियों के द्वारा (इमान् लोकान्) इन सब लोक — लोकान्तरों को (ईशत) अनुशासित करता है, और (विश्वा भुवनानि संसृज्य) सब लोक-लोकान्तरों को बनाकर (गोपाः = गो+पाः) सभी गतिशील गोलकों = भूगोलों का पालन, पोषण, संरक्षण करने वाला है (च) और (अन्तकाले) प्रलयकाल में (संचुकः) सबको समेटने-

---

१ सत्य — सनातन शक्तिधर, विलय — विकासनकार।
भजकर, लखकर ईशको, साधक उतरे पार ॥

संकुचित करने वाला है, वह तो (प्रत्यं जनान्–तिष्ठति) वह तो सभी प्राणियों को घेरे बैठा है। वह तो घट-घट का वासी है, सर्वव्यापक है।

३ — सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान्

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो,
विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैः,
द्यावाभूमी जनयन्-देव एकः ॥३॥

यह यजुर्वेद के १७ वें अध्याय का १९ वां मन्त्र यहां उद्धृत किया गया है।

शब्दार्थ—(विश्वतः चक्षुः) उसके नेत्र सर्वत्र हैं। वह सब कुछ देखता है। (उत) और विश्वतः मुखः) उसके मुख सब ओर हैं। वह सर्वदा—सर्वत्र, सब को उपदेश करने में समर्थ है। (विश्वतः बाहुः) उसकी भुजायें सब ओर हैं। ऐसा कुछ भी नहीं जो वह कर न सके। ऐसा कोई भी नहीं, जिसे वह पकड़ न सके। (उत) और (विश्वतः पात्) उसके पांव सर्वत्र हैं। उस की पहुंच सर्वत्र है। (एकः देवः) वह एक — अकेला दिव्य और ज्योतिःस्वरूप — किसी दूसरे की सहायता के बिना ही (बाहुभ्याम्) अपने सर्वोपरि सामर्थ्य से (द्यावा — भूमी) द्यु-लोक और पृथिवी-लोक को (सम्-जनयन्) निर्माता हुआ और समेटता हुआ (पतत्रैः) अपने

निर्माण साधनों से अपने विश्लेषण — साधनों से (संघ-मति) [लौहार की धोंकनी के समान] धोंकता है। उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के खेल से खेलता है।

४—उत्तम बुद्धि की कामना

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च,
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं,
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥४॥

शब्दार्थ —(यः) जो (देवाम्) इस सृष्टि के उपादान कारणस्वरूप प्राकृतिक तत्त्वों का, पाँच महाभूतों का (प्रभव च उद्भवः) प्रेरक और प्रकाशक है, या जो सब विद्वानों और पदार्थों का निर्माता एवं प्रलयंकर है; (विश्वाधिपः) सब का सर्वरक्षक स्वामी है, (रुद्रः) अत्यन्त प्रचण्ड, न्यायकारी और दुष्टों को रुलाने वाला है, (महर्षि) क्रान्तदर्शी, सम्पूर्ण विद्याओं का ज्ञाता और प्रकाशक है, जिसने (पूर्वम्) सृष्टि-रचना के आरम्भ में (हिरण्यगर्भम्) हिरण्यगर्भ को, [NEBULA] एक बड़े और चमकदार गोले के रूप में ब्रह्माण्ड को (जनयामास) विकसाया था, (सः) वह (नः) हमें (शुभया बुद्धया) सुबुद्धि से (संयुनक्तु) संयुक्त करे।

प्रभुवर! हम सब तेरे द्वार ।
मांग रहे हैं बारम्बार ॥
हमें सुबुद्धि करो प्रदान ।
सब का सब विधि हो कल्याण ॥

५—शोभा और शान्ति की कामना

या ते रुद्र शिवा तनूः —
अघोरा पापकाशिनी ।
तया नस्तनुवा शन्तमया,
गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥५॥

शब्दार्थ —(रुद्र) हे न्यायकारिन् ! (या ते) जो तेरी (शिवा) कल्याणमयी (अघोरा) निर्दोष (अपापकाशिनी) पुण्य-प्रकाशिका एवं पाप-नाशिका (तनुः) महान सत्ता है, (गिरिशन्त) हे कठोर पत्थरों को भी शोभा-सम्पन्न करने वाले ! (तया) उस (शन्तमया) शान्तिप्रदा (तनया) अपनी सत्ता और महत्ता के द्वारा (नः) हम को (अभिचाकशीहि) देख, हमें भी शोभा और शान्ति प्रदान कर ।

६—संरक्षण की कामना

यामिषुं गिरिशन्त,
हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ।
शिवां गिरित्र तां कुरु,
मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥६॥

शब्दार्थ :—(गिरिशन्त) हे पहाड़ों को भी शोभा और शान्ति के दाता (याम् इषुम्) जिस वाणधारा को (अस्तवे) संचलन के लिये [मेघों और हिमागारों को विदीरणे के लिये (हस्ते विभर्षि) तू कार्योन्मुख करता है (ताम्) उसे [हमारे लिये] (शिवाम् कुरु) सुखद कर। (गिरित्र) हे पर्वतों के संरक्षक! प्रतारक!! (मा हिंसीः पुरुषम्-जगत्) प्राणि-जगत् को पीड़ित न कर।

७—ईश्वर-बोध का फल

ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तं
यथा निकायं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम्
ईशं तं ज्ञात्वा-अमृता भवन्ति ॥७॥

शब्दार्थ :—(ततः) फिर, पूर्वोक्त रीति से उस न्याय-कारी (परम्) सर्वोपरि (बृहन्तम्) महान (परम ब्रह्म) ज्ञान स्वरूप (सर्वभूतेषु) सब पदार्थों और सब प्राणियों में (यथा निकायम्—गूढम्) जो, जहाँ—जितना और जैसा है, वहां-उतना और वैसा उस में गुप्त रूप से रहने वाले (विश्वस्य) विश्व के एकमात्र (परिवेष्टितारम्) आच्छादक (तम्) उस (ईशम्) प्रशासक को (ज्ञात्वा) जानकर [उपासकजन] (अमृताः भवन्ति अमर होते हैं।

८—मृत्यु पर विजय-प्राप्ति का एक ही मार्ग

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्—
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति,
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥८॥

यह यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय का ११ वां मन्त्र यहां उद्धृत किया गया है।

शब्दार्थ—(अहम्) मैं (एतम्) इस (महान्तम्) महान् (आदित्यवर्णम्) प्रकाशस्वरूप, (तमसः परस्तात्) पाप, ताप, अविद्या और अन्धकार आदि से विमुक्त (पुरुषम्) परम पुरुष परमात्मा को (वेद) जानता हूं। (तम एव विदित्वा) उसको ही जानकर [उपासक] (मृत्युम्-अति-एति) मृत्यु को पार करता है—जन्म-मरण से छूटता है (अयनाय) छुटकारे—मोक्ष के लिये (अन्यः पन्थाः न विद्यते) और कोई मार्ग नहीं हैं।

९—सर्वोपरि, सर्वव्यापक, एक ही

यस्मात् परं नापरमस्ति किंचित्—
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठति-एकः,
तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥९॥

शब्दार्थ —(यस्मात्) जिससे (परन्) बढ़कर (किंचित्-अपरम्) कोई अन्य (न अस्ति नहीं है, (यस्मात्) जिससे (अणीयः) छोटा=सूक्ष्म न) कोई नहीं, (कश्चित्) कोई (ज्यायः) बड़ा भी (न अस्ति) नहीं है। [वह जो] (एकः) एक—अकेला ही [इस धरती और आकाश के बीच में एक महान, अखण्ड और अडिग] (वृक्ष इव) वृक्ष के समान (स्तब्धः तिष्ठति) सुप्रतिष्ठित है, (तेन पुरुषेण) उस परम पुरुष परमात्मा से (इदम्-सर्वम्-पूर्णम् यह सम्पूर्ण जड़-जंगम विश्व-प्रपंच परिपूर्ण है।

१०—निराकार, जानने योग्य

ततो यदुत्तरतरं,
तदरूपमनामयम्।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति,
अथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥१०॥

शब्दार्थ —(यत्) जो (ततः) इससे भी अधिक (उत्तरतरम्) बढ़कर है, [जो कुछ कहने—सुनने में आता है, जिसका मन से चिन्तन, संकल्प, विकल्प अथवा आकलन किया जा सकता है, जो चक्षु और वाणी आदि का विषय नहीं है, वाणी-व्यापार तथा भाषा-व्यवहार की जहां कुछ थोड़ी-सी भी पहुंच नहीं है, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार भेद से प्रसिद्ध अन्तःकरण-चतुष्टय भी जहां पहुंच नहीं

सकता,] जो (अरूपम्) रूप-रहित=निराकार, (अनामयम्) दुःख-रहित है. [उसको] (ये) जो (एतद्) इस रहस्यमय ईश्वर को (विदुः) यथावत् रूप में जान लेते हैं, (ते) वे (अमृता भवन्ति) अमर हो जाते हैं। (अथ-इतरे और जो इनसे भिन्न नास्तिक, ईश्वर-विमुख, अज्ञानी जन हैं, वे तो (दुःखम्-एव आ पियन्ति) [जन्म-मरण आदि के नाना-विध] दुःख ही पाते=भोगते रहते हैं।

११—ईश्वर की सर्वव्यापकता

सर्वानन शिरोग्रीवः,
सर्वभूत गुहाशयः, ।
सर्वव्यापी स भगवांस्—
तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥११॥

शब्दार्थ—(सर्व—आनन—शिरः—ग्रीवः) उसके मुख सिर और गरदन आदि सर्वत्र हैं। (सर्वभूत गुहाशयः) वह सभी प्राणियों के हृदय में विराजमान है=वह घट-घट वासी है। (सः) वह (भगवान) सब सम्पदाओं का सर्वोपरि स्वामी (सर्वव्यापी) सर्वव्यापक है, (तस्मात्) तभी तो (सर्वगतः) वह सब का अन्तर्यामी। सर्वद्रष्टा, सर्वशक्तिमान् और शिवः) सब का सब प्रकार से कल्याण करनेवाला [प्रसिद्ध] है।

१२—ईश्वर की महिमा

महान् प्रभुर्वै पुरुषः
सत्त्वस्यैष प्रवर्त्तकः ।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिम्-
ईशानो ज्योतिरव्ययः ॥१२॥

शब्दार्थ—(वै) निस्सन्देह वह ईश्वर ही (महान् प्रभुः) सब का सर्वोपरिस्वामी और (पुरुषः) इस ब्रह्माण्ड रूपी पुरी में सर्वव्यापक परम पुरुष है। (एषः) वह यही (सत्त्वस्य) बल,बुद्धि और अस्तित्व का (प्रवर्त्तकः)प्रवर्त्तक, प्रदाता, प्रसारक, प्रकाशक है। वह(ज्योतिः)ज्योतिःस्वरूप (अव्ययः) विकार-रहित सदैव एकरस रहने वाला ईश्वर ही (इमाम्) इस (सुनिर्मलाम्) अत्यन्त शुद्ध, सर्वश्रेष्ठ (आप्तिम्) उपलब्धिः—मोक्ष-प्राप्ति का(ईशानः) प्रशासक, नियन्ता, प्रदाता है।

१३—जीवात्मा का स्वरूप

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो,
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१३॥

शब्दार्थ—[और जो] (अन्तरात्मा)जीवात्मा(जनानाम्)

मनुष्यों के [अंगुष्ठमात्र] (हृदये) हृदय में (सदा) निरन्तर [देह के परित्याग पर्यन्त=मृत्यु होने तक] (संनिविष्टः) शरीर में प्रविष्ट होकर रहता है। वह (अंगुष्ठमात्रः पुरुषः) अंगुष्ठमात्र और पुरुष कहलाता है। [अंगुष्ठमात्र हृदय में रहने के कारण उसे अंगुष्ठमात्र कहते हैं। और शरीररूपी पुरी में शयन करने से वही पुरुष भी कहलाता है।] वह (मन्वीशः) मन का अधिष्ठाता तो (हृदा-मनसा) गम्भीर=हार्दिक विचार-शक्ति द्वारा (अभिक्लृप्तः) जाना जाता है। (ये एतद् विदुः) जो इस रहस्यमय जीवात्मा को जान लेते हैं, (ते अमृताः भवन्ति) वे अमर हो जाते हैं, सुखी हो जाते है, जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाते हैं और मोक्षप्रद को पाते हैं। [आत्म-दर्शन के बाद ही ईश्वर-दर्शन की सिद्धि मिलती है।

विशेष--कुछ विद्वान् इस श्लोक के तीसरे चरण में "मन्वीशः" के स्थान पर "मनीषा" पद स्वीकार करते हैं। इससे अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। तब (हृदा-मनसा-मनीषा) "हार्दिक मनन और बुद्धि द्वारा—यह अर्थ होगा।

१४—ईश्वर का विराट् स्वरूप

सहस्रशीर्षा पुरुषः,
सहस्राक्ष सहस्रपात्।

स भूमिं विश्वतो वृत्वा—
अत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥१४॥

शब्दार्थः—वह (पुरुषः) परम पुरुष परमात्मा (सहस्र-शीर्षा) हजारों सिरों वाला है; (सहस्राक्षः) हजारों नेत्रों वाला है, (सहस्रपात्) हजारों पांव वाला है, (सः) वह (भूमिम्) भूमि को (विश्वतः वृत्वा), सब ओर से घेरकर—उठाकर धारण करता है [फिर भी मानो वह इससे] (दशांगुलम्-अति-अतिष्ठत्) दस उंगल दूर खड़ा है। [संसार में रहकर भी वह तो इस से पृथक् ही है।]

विशेष :—यह आलंकारिक रूप में उस परम पुरुष ईश्वर की महिमा का वर्णन है। भाषा की दरिद्रता भी यहाँ सुस्पष्ट है। समझने और समझाने के लिये उस निराकार, नित्य, अनन्त, अखण्ड और विभु को यहां सिर, आंख, मुंह, हाथ, पांव वाला कल्पित किया गया है। ईश्वर को मानव-बुद्धि-गम्य बनाने का ही यह एक प्रयास है। ऋग्वेद—[१०।९०।१] अथर्व—[१९।६।१] और यजुर्वेद [३१।१] में भी यह उल्लेख है।

१५—फिर ईश्वर का विराट स्वरूप

पुरुष एवेद ७ सर्वं,
यद् भूतं यच्च भव्यम्।

उतामृतत्वस्येशानो,
यदन्नेनातिरोहति ॥१५॥

शब्दार्थ—(इदम्) यह (सर्वम्) जो सब कुछ है (यत् भूतम्) जो था (च) और (यत्) भव्यम्) जो आगे होने वाला है, [उस सब कुछ का स्वामी, प्रेरक, उत्पादक, वा प्रकाशक] (पुरुष एव) वह परमपुरुष परमात्मा ही है। (उत) और अमृतस्य) अत काम्, मोक्ष का, आनन्द का (ईशान:) प्रशासक, विधाता, प्रदाता भी [वही है।] (यत्) जो कुछ (अन्नेन अतिरोहति) अन्न=भोजन से बढ़ता है, [उस मानव शरीर, पशु-पक्षी-शरीर, वृक्ष और लता आदि समुदाय का प्रशासक, विकासक, विधाता भी वही है।]

१६—फिर ईश्वर का विराट् स्वरूप

सर्वतः पाणि-पादं तत्-
सर्वतोऽक्षि शिरो-मुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्-लोके,
सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१६॥

शब्दार्थ—उसके (पाणि-पादम्) हाथ-पांव (सर्वतः) सर्वत्र हैं। उसके (अक्षि-शिरः-मुखम्) आँख, सिर, मुख (सर्वतः) सर्वत्र हैं। वह तो (सर्वतः) सर्वत्र ही (श्रुतिमत्) श्रवण-शक्तिवाला है वह तो (सर्वम्-आवृत्य-लोके-तिष्ठति)

इस सम्पूर्ण प्रपंच को पैदाकर, उठाकर, इसमें व्याप्त होकर—बैठा है—सर्वत्र विराजमान् हो रहा है।

विशेष—इस विश्व-प्रपंच के प्रत्येक कण से उसकी सत्ता और महत्ता का पता मिलता है। इस नाम-रूपमय जगत् में भीतर-बाहर व्याप्त होकर भी वह सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, आनन्दस्वरूप इससे पृथक् है। उस से बढ़कर कोई नहीं। उस जैसा कोई नहीं। उससे परे कुछ नहीं। न कोई उस जैसा था, न है, न होगा। इस सृष्टि, शकट का निमित्त-कारण वही है। अनाम होने पर भी लोक-व्यवहारों की सिद्धि के लिये उसके नाम कल्पित किये गये हैं। अरूप होने पर भी तत्त्वज्ञानी उसे देख लेते हैं और पुकार उठते हैं—

या रब ! गुलो-गुलजार में मैंने तुझे देखा।
हर वादिये-कोहसार में मैंने तुझे देखा॥
कहता है कौन तुझको कि तू परदा-नशीं है ?
हर कूचा-ओ-बाजार में मैंने तुझे देखा॥

१७—सबका सर्वोपरि आश्रय

सर्वेन्द्रिय गुणाभासं
सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं,
सर्वस्य शरणं बृहत्॥१७॥

शब्दार्थः—(सर्व-इन्द्रिय-गुणाभासम्) वह सभी ज्ञानेन्द्रियों और सभी कर्मेन्द्रियों की शक्तियों वाला है, इस पर भी वह (सर्व-इन्द्रिय-विवर्जितम्) सभी इन्द्रियों से रहित है, [मनुष्य आदि के समान उसका न कोई शरीर है, न ही इन्द्रियों के कोई गोलक।] उस (सर्वस्य प्रभुम्-ईशानम्) सबके सर्वोपरि स्वामी और प्रशासक को ही (सर्वस्य-बृहत्-शरणम्) सब का सर्वोपरि आश्रय [जानो।]

१८—जोवात्मा बन्धन में है, ईश्वर बन्धन में नहीं !

नवद्वारे पुरे देही,
हंसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य,
स्थावरस्य चरस्य च ॥१८॥

शब्दार्थ—इस शरीर रूपी (नव द्वारे पुरे) नौ दरवाजों वाले नगर में (देही) देह में रहने वाला (हंसः) जोवात्मा (लेलायते) बाहर आने को ललचाता है। [नौ दरवाजे होने पर भी वह स्वेच्छा से बाहर नहीं आ सकता, क्योंकि इस स्थूल शरीर के अन्दर ही सूक्ष्म-शरीर और कारण-शरीर भी वर्तमान हैं। जोवात्मा उनके बन्धन में है।]

(अस्य सर्वस्य लोकस्य-स्थावरस्य च चरस्य) इस सम्पूर्ण स्थावर और जंगम लोक का (वशीः) वशीकार

करने वाला -नियामक ईश्वर तो (बहिः) बाहर ही है। [वह किसी बन्धन में नहीं।]

१९—निराकार, सर्वज्ञ

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता,
पश्यति-अचक्षु स शृणोति-अकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता,
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥१९॥

शब्दार्थ—वह (अपाणि-पादः)हाथ-पांव वाला नहीं है। फिर भी वह (जवनः ग्रहीता) शीघ्रगामी और पकड़ लेनें वाला है। (सः अचक्षुः पश्यति) वह आंखों के विना ही देखता है। और (अकर्णः शृणोति) श्रोत्रों के विना ही सुनता है। (सः वेद्यम्-वेत्ति) वह जानने योग्य को जानता है (च) परन्तु (तस्य वेत्ता) उसको [पूर्णतया] जाननें वाला [कोई] (न अस्ति) नहीं है। (तम् अग्रयम्) उस सबके अग्रणी को ही (महान्तम्-पुरुषम्-आहुः) महान—परम पुरुष कहते हैं।

विशेष—इस श्लोक को उद्धृत करके महर्षि दयानन्द जी "सत्यार्थ-प्रकाश" के सातवें समुल्लास में लिखते हैं :-

"परमेश्वर के हाथ नहीं; परन्तु अपनी शक्ति रूप हाथ से सब का रचना-ग्रहण करता, पग नहीं परन्तु व्यापक होने से अधिक वेगवान्, चक्षु का गोलक नहीं; परन्तु सब

को यथावत् देखता, श्रोत्र नहीं, तथापि सबकी बातें सुनता, अन्तः-करण नहीं, परन्तु सब जगत को जानता है। और उसको अवधि सहित जानने वाला कोई भी नहीं। उसी को सनातन, सबसे श्रेष्ठ, सबसे पूर्ण होने से पुरुष कहते हैं। वह इन्द्रियों और अन्तःकरण से [होने वाले] काम अपने सामर्थ्य से करता है।"

२० — ईश्वर की कृपा से ही ईश्वर-दर्शन होता है।

अणोरणीयान्महतो महीयान् —
आत्मा गुहायां निहितो ऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको,
धातुप्रसादान्महिमानमीशम् ॥२०॥

शब्दार्थ —वह ईश्वर (अणोः अणीयान्) छोटों से से भी छोटा है और (महतः महीयान्) बड़ों से भी बड़ा है। वह (आत्मा) सर्वव्यापक परमात्मा (अस्य जन्तोः) इस जन्म-मरण में आने वाले शरीर धारी जीवात्मा की (गुहायाम्) हृदयरूपी गुफा में (निहितः) निहित है। [जीवात्मा को ईश्वर के दर्शन अपनी हृदय रूपी गुफा में ही होते हैं। हृदय रूपी गुफा में जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही पास-पास वर्तमान हैं। अतः शरीर से बाहर तो उपासना का अनुष्ठान तो हो नहीं सकता। माना कि शरीर से बाहर भी ईश्वर मौजूद है, परन्तु जीवात्मा तो

शरीर से बाहर नहीं है। वह तो अपने शरीर में ही आबद्ध है।] (तम्) उस (अक्रतुम्) भोग के बन्धनों और आकार-शून्य (ईशम्) ईश्वर को [यह जोवात्मा] उस (धातुः प्रसादात् पश्यति) उस प्रभु=विधाता की कृपा से ही देखता है, और (वोत शोकः) शोक-सन्ताप-रहित हो जाता है।

विशेष—सभी उपासकों को इस श्लोक का विशेष मनन करना चाहिये। इससे आत्मा और परमात्मा विषयक बहुत सी उलझनें सुलझ जाती हैं, और मूर्त्ति-पूजा की व्यर्थता का बोध भी हो जाता है। यहां पर महर्षि दयानन्द जी का यह उल्लेख भी विशेष रूप से मनन करने योग्य है —

प्रश्न – जीव शरीर में भिन्न विभु है, वा परिछिन्न ?

उत्तर – परिछिन्न, जो विभु होता है, तो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मरण, जन्म, संयोग, वियोग, जाना, आना कभी नहीं हो सकता। इसलिये जीव का स्वरूप अल्पज्ञ, अल्प अर्थात् सूक्ष्म है और परमेश्वर अतीव सूक्ष्मतर, अनन्त, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक स्वरूप है। इसलिये जीव और परमेश्वर का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है।

प्रश्न—जिस जगत में एक वस्तु होती है, उस जगह दूसरी वस्तु नहीं रह सकती। इसलिये जीव और ईश्वर का संयोग सम्बन्ध हो सकता है, व्याप्य-व्यापक नहीं।

उत्तर—यह नियम आकार बनाने वाले पदार्थों में घट सकता है, असमानाकृति में नहीं, जैसे लोहा स्थूल, अग्नि सूक्ष्म होता है, इस कारण से लोहे में विद्युत, अग्नि व्यापक होकर एक ही अवकाश में दोनों रहते हैं। वैसे जीव परमेश्वर से स्थूल और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म होने से परमेश्वर व्यापक और जीव व्याप्य है। जैसे यह व्याप्य व्यापक सम्बन्ध जीव ईश्वर का है, वैसे ही सेव्य-सेवक, अधाराधेय, स्वामी-भृत्य, राजा-प्रजा और पिता-पुत्र आदि का भी सम्बन्ध है। [सत्यार्थ-प्रकाश. सातवां समुल्लास]

२१—प्रत्यक्ष-दर्शी की उद्घोषणा

वेदाहमेतमजरं पुराणं,
सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्म-निरोधं प्रवदन्ति यस्य,
ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥२१॥

शब्दार्थ—जिसको ईश्वर-दर्शन की सिद्धि प्राप्त हुई है, वह उपासक घोषणा करता है —

(अहम्) मैं (एतम्) इस ईश्वर को (वेद) जानता हूं, जो (अजरम्) अजर है, (पुराणम्) सनातन है, (सर्वात्मानम्) सब का अन्तर्यामी है (विभुत्वात्) सर्वव्यापक होने के कारण (सर्वगतम्) सब कालों और

सब स्थानों में पहुंचने वाला है, (यस्य) जिसके (जन्म-निरोधम्) जन्म-मरण-रहित होने को (ब्रह्मवादिनः) वेदवाद और ईश्वरवाद के सभी विशेषज्ञ (प्रवदन्ति) सुस्पष्ट रूप में दर्शाते हैं, और (नित्यम् हि प्रवदन्ति) जिसकी नित्यता को भी नित्य ही स्वीकार करते हैं।

विशेष—जैसे महर्षि दयानन्द जी ईश्वर—ब्रह्म-प्रत्यक्ष के सिद्धान्त को स्वीकारते थे, वैसे ही प्राचीनतम आचार्य भी ब्रह्म-प्रत्यक्ष के ही प्रचारक थे—

नमो ब्रह्मणे, नमस्ते वायो, त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि, ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि, तन्मामवतु, तद्वक्तारमवतु अवतुमामवतु वक्तारम्। [सत्यार्थ-प्रकाश, पहला समुल्लास] [तैत्तिरीय-उपनिषद्—११२]

अर्थ—हे ब्रह्म! तुझे नमस्कार। हे वायो! तुझे नमस्कार! तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है। मैं तुझे ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा मैं ऋत ही बोलूंगा। मैं सत्य ही बोलूंगा। मेरी रक्षा कर। ऋत और सत्य के उपदेशक की रक्षा कर।

तीसरा अध्याय समाप्त

चौथा अध्याय

१—उत्तम बुद्धि के लिये प्रार्थना

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्
वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः,
स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु ॥१॥

शब्दार्थ—जो (एकः) एक ही है, (अवर्णः) रंगरूप और आकार से रहित है, (निहितार्थः) स्वार्थ से रहित है और जो (शक्तियोगात्) अपनी सामर्थ्यप्रयोग से (अनेकान्-वर्णान्) अनेक प्रकार के रंग-रूपों को (बहुधा दधाति) बहुत प्रकार से धारता है, (विश्वम् आदौ) सृष्टि के आरम्भ में। (च) सुरक्षित रखता है (च) और (अन्ते) अन्त में प्रलय काल में (वि-एति) विनाशता-बिगाड़ता-विलुप्त भी करता है, (सः देवः) वह ज्योतिःस्वरूप (नः) हम को (शुभया बुद्धया) शुभ बुद्धि से (संयुनक्तु) संयुक्त करे।

मांग रहे हैं हम वरदान ।
दाता! दो शुभ बुद्धि दान ॥

२—अनेक नामों का नामी एक ही

तदेवाग्निस्तदादित्यस्-

तद्वायुस्तदु चन्द्रमा ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म,

तदापस्तत्-प्रजापतिः ।।२।।

शब्दार्थ—(तत् एव अग्निः) वह ही अग्नि है। (तत् आदित्यः) आदित्य भी वही है। (तत् वायुः) वायु भी वही है। (उ) और (तत् चन्द्रमा) वह चन्द्रमा है। (तत् एव शुक्रम्) वह ही शुक्र है। (तत् ब्रह्म) वह ब्रह्म है। (तत् आपः) वह आप है। (तत् प्रजापतिः) वह प्रजापति है।

विशेष—ये सब नाम उस एक ईश्वर के ही हैं, जो कि उस के गुण, कर्म व स्वभाव को सूचित करते हैं। क्योंकि उस के गुण, कर्म और स्वभाव अनन्त हैं, अतः उस के इसी प्रकार के गुण, कर्म और स्वभाव सूचक नाम भी अनन्त हैं। इस नाम—विविधा को देखकर कोई अनेकेश्वर-वाद के गर्त में न गिरे। उपनिषद्कार ने यह यजुर्वेद [३२।१] का मन्त्र ही यहां उद्धृत किया है।

"आर्याभिविनय" में इस का महर्षि दयानन्द जी कृत व्याख्या-विस्तार ऐसा है:—

"जो सब जगत् का कारण एक परमेश्वर है। उसी का नाम अग्नि है [ब्रह्म, ह्यग्निः शतपथे] सर्वोत्तम, ज्ञान-

स्वरूप, जानने के योग्य है, प्राणीस्वरूप और पूज्यतमे-त्यादि अग्नि शब्द का अर्थ है। "आदित्यो वै ब्रह्म, वायुर्वै ब्रह्म, चन्द्रमा वै ब्रह्म, वै शुक्रं हि ब्रह्म, सर्वं जगत्कर्तृ ब्रह्म ब्रह्म वै बृहत् आपो वै ब्रह्मेत्यादि" शतपथ तथा ऐतरेय ब्राह्मण के प्रमाण हैं।"

"तदादित्य" जिस का कभी नाश न हो, और स्वप्रकाश स्वरूप हो, इस से परमात्मा का नाम आदित्य है। 'तद्वायु:' सब जगत् का धारण करने वाला, अनन्त बलवान; प्राणों से भी जो प्रिय स्वरूप है, इससे ईश्वर का नाम वायु है। पूर्वोक्त प्रमाण से "तदु चन्द्रमा:" जो आनन्दस्वरूप और स्वसेवकों को परमानन्द देने वाला है इससे पूर्वोक्त प्रकार से चन्द्रमा परमात्मा को जानना। "तदेव शुक्रम्" वही चेतनस्वरूप ब्रह्म सब जगत् का कर्त्ता है। "तद्ब्रह्म" सो अनन्त चेतन सबसे बड़ा है। और धर्मात्मा स्वभक्तों को अत्यन्त सुख विद्यादि सद् गुणों से बढ़ाने वाला है।

"ता आप:" उसी को सर्वज्ञ चेतन सर्वत्र व्याप्त होने से आप नामक जानना। "स: प्रजापति:" सो ही सब जगत् का पति (स्वामी) और पालन करने वाला है, अन्य कोई नहीं। उसी को हम लोग इष्टदेव तथा पालक मानें अन्य को नहीं।"

३—ईश्वर के लिंगभेद या अवस्थाभेद नहीं होते

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि,
त्वं कुमार उतवा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि,
त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥३॥

शब्दार्थः—(त्वम्) तू (स्त्री) है। (त्वम् पुमान्) तू पुरुष है। (त्वम् कुमारः) तू कुमार है (उत कुमारी वा) और कुमारी भी तू ही है। (त्वम् जीर्णः) तू बूढा है, [जो कि] (दण्डेन वंचसि) लाठी के सहारे-सहारे चलता है। (त्वम् जातः) तू सुप्रसिद्ध है। तू तो (विश्वतोमुखः भवसि) सब ओर मुखों वाला है, अनन्त मुखों वाला है।

विशेष—स्त्रीलिंग वा पुल्लिग जैसा कोई लिंगभेद ईश्वर का नहीं है। कुमार और कुमारी अथवा बाल और वृद्ध जैसा कोई अवस्था-भेद भी उसका नहीं। सभी रंग उसके रंग हैं, सभी ढंग उसके ढंग। ज्ञानी, ध्यानी, समझने-समझाने के लिये उसके विषय में अनेक विध काल्पनिक तोड़-फोड़ आये दिन किया करते हैं, तथापि वह एक, अखण्ड और सर्वोपरि सत्ता तो जैसी है, वैसी ही एक-रस बनी रहती है।

इस श्लोक का अर्थ जीवात्मा परक भी होता है।

क्योंकि जीवात्मा के भी लिंगभेद वा अवस्था भेद नहीं होते। यथा—

हे जीवात्मन् ! तू स्त्री भी है, तू पुरुष भी है। तू कुमार भी है, और कुमारी भी। इसके साथ ही तू एक ऐसा बूढ़ा भी है, जोकि लाठी के सहारे-सहारे चलता है। तू प्रसिद्ध है। अथवा—तू (जातः) जन्म ग्रहण करने वाला =शरीर के बन्धन में आनेवाला है। तू ही (विश्वतोमुखः) [नानाविध योनियों में जाकर] नाना प्रकार के मुखों को =आकार प्रकारों को धारण करने वाला है।

४— प्रकृति का प्रतिपादान

नीलः पतंगो हरितो लोहिताक्षः,
तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे,
यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥४॥

अर्थात्—हे प्रकृति नटी ! (नीलः पतंगः) नील नीला भ्रमर [तू ही है।] (हरितः लोहिताक्षः) हरा और लाल आंखों वाला [तोता] तू ही है। (तडिद्गर्भः विद्युतः भी तू ही है, विद्युत को अपने गर्भ में धारण करने वाला मेघ-मण्डल भी तू ही है (ऋतवः) तू ही ऋतु-ऋतु है। ऋत्वों के काल-भेद, अवस्था-भेद, रूप-रंग-भेद तेरे कारण ही होते हैं। (समुद्राः) [तू ही] समुद्र है। सब समुद्र तेरे

ही विकार हैं। (विभुत्वेन) सर्वत्र व्याप्त होने के कारण तू ही (अनादिमत्वम्) अनादित्व तथा अनन्तत्व को भी (वर्तसे) वर्तती है। [कार्यरूपा प्रकृति अन्त वाली है; परन्तु कारण रूपा प्रकृति तो अन्त रहित। कारण रूप में तो प्रकृति भी ईश्वर और जीवात्मा समुदाय के समान एक नित्य सत्ता है।] वह तू ही तो है (यतः) जिस से ये (विश्वा—भुवनानि जातानि) सब लोक-लोकान्तर, ग्रह-उपग्रह, रंग-रूप वाले छोटे-बड़े पदार्थ बने हैं, विकसित हुए हैं।

विशेष—क्योंकि कारण रूपा प्रकृति सूक्ष्म होती है, और उसका प्रसार भी सर्वत्र होता है,। अतः उसे भी उपलक्षण से विभु = व्यापक कहा जाता है। यह तो सुस्पष्ट ही है कि ईश्वर व आकाश जैसी सर्वव्यापकता प्रकृति को नहीं है। यह प्रकृति ही इस सृष्टि का उपादान-कारण है प्रकृति को नित्य सत्ता को स्वीकारे बिना इस सृष्टि को पहेली को सुलझाया नहीं जा सकता। माया, स्वधा, योनि, आदि और भी कई नामों से प्रकृति का बखान होता है।

नवीन-वेदान्त के उत्साही प्रचारक प्रकृति को नित्य-सत्ता को स्वीकारे बिना ही सृष्टि की पहेली को सुलझाया करते हैं। वे ब्रह्म—बन्धु तो अपने जोश में जीवात्मा—समुदाय का भी विलोप कर देते हैं, या सर्वज्ञ, सर्वशक्ति-मय और आनन्द स्वरूपब्रह्म को भी अज्ञानी, दुर्बल एवं सन्तप्त बताने लगते हैं। उन्हें अपने पक्ष—पोषण के लिये

कई प्रकार की क्लिष्ट-कल्पनायें भी करनी पड़ती हैं, माया और अविद्या की कल्पनाओं से तो वे शुद्ध, बुद्ध और मुक्त-स्वभाव ब्रह्म को ही मायावी और अविद्या ग्रस्त भी बताते ही हैं। कैसी विचित्रता है?

इस के विपरीत चारवाक आदि प्राचीन नास्तिक मत और आज कल के तथाकथित रसायण-विद्या-विशारद वैज्ञानिक और उनके आविष्कारों से चमत्कृत अर्धशिक्षित-समुदाय जड़-प्रकृति से ही चेतनता अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा दोनों की उत्पत्ति का मिथ्या-ज्ञान प्रचारते हैं। किसी सनातन, नित्य, चेतन सत्ता को वे नहीं स्वीकारते। इनके मन्तव्य कुछ कम भ्रान्त नहीं हैं।

सृष्टि की पहेली तो त्रैतवाद के आधार पर ही सुलझती हैं जो कि इस उपनिषद् का मुख्य विषय है। कुछ वितण्डावादी लोग शास्त्रीय-वचनों के सरल और स्वाभाविक अर्थों को बिगाड़ा और तोड़ा-मरोड़ा करते हैं। ऐसा करके वे अपने—अपने साम्प्रदायिक अर्थों के चोले शास्त्रीय-वचनों को पहिनाते रहते हैं। यह प्रवृत्ति निन्दनीय तो है ही, यह अखिल मानवता के लिये अत्यन्त अहितकर भी है।

तथापि—

सचाई छिप नहीं सकती बनावट के असूलों से।
कि खुशबू आ नहीं सकती, कभी कागज के फूलों से॥

५—ईश्वर, जीव और प्रकृति का पारस्परिक भेद

शब्दार्थ—(एकाम् अजाम्) एक ही अजा को=अजन्मा प्रकृति को, जोकि लोहित शुक्लकृष्णाम्) लाल, सफेद और काली आदि भेद से बहुत रंगों वाली है, (सरूपाः) नाना प्रकार के आकार-प्रकार वाली (बह्वीः प्रजाः) बहुत बड़ी संख्या वाली प्रजा=अपनी सन्तान-परम्परा, कार्य रूप में विकसित नाना विद्या सृष्टि को (सृज्यमानाम्) बनाने वाली है, उस को (एकः अजः) एक अज=अजन्मा पुरुष [=जीवात्मा समुदाय] (जुषमाणः) प्यार करता हुआ (अनुशेते) उसके साथ सोता है। (अन्यः अजः) एक दूसरा अज=अजन्मा ईश्वर (भुक्त-भोगाम्-एनाम्) [दूसरों=जीवात्माओं के द्वारा] उपभुक्त इस को (जहाति) छोड़ देता है।

श्री आचार्य सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार कृत अर्थ :—

"लाल, सफ़ेद, काले रंग की एक "अजा" है, जो अपने ही रंग-रूपवाली अनेक प्रजाओं का सर्जन कर रही है। एक "अज" है, जो उस अजा के साथ प्रीति करता है। उसके साथ सो जाता है, एक दूसरा "अज" है, जो भुक्त भोगा "अजा" को छोड़ देता है।"

वे आगे लिखते हैं :—

"अज" अज का अर्थ "अ+ज=अज" जो पैदा नहीं होता, अजन्मा, अनादि है। तीन "अ+ज" अर्थात् अनादि

हैं। एक भोग्य सत्व, रज, तम—रूपी "अजा" प्रकृति है। दूसरा भोगनें वाला—अज जीवात्मा, तीसरा न भोगनें वाला परमात्मा। जीवात्मा प्रकृति में रम जाता है(परमात्मा नहीं रमता।"

वे फिर लिखते हैं :—

"इस मन्त्र का यह भी अर्थ हो सकता है कि अजा-प्रकृति-तो भोग्या है। परन्तु अज-दो प्रकार के हैं—एक ऐसे जीव हैं, जो भोग में ही रमे रहते हैं, उसे छोड़ते ही नहीं। दूसरे ऐसे जीव हैं, जो प्रकृति का भोग करके उसे छोड़ देते हैं, शान्त हो जाते हैं।"

विशेष—इस श्लोक का पूर्वार्ध महर्षि दयानन्द सरस्वती ने "सत्यार्थ प्रकाश" के सातवें समुल्लास में उद्धृत करके लिखा है :—

"जो जन्म-रहित सत्व, रज, तमोगुण रूप प्रकृति है, वही स्वरूपाकार से बहुत प्रजा रूप हो जाती है। और पुरुष अपरिणामी होने से वह अवस्थान्तर होकर दूसरे रूप में कभी नहीं प्राप्त होता, सदा कूटस्थ निर्विकार रहता है।"

"सत्यार्थ-प्रकाश" के आठवें समुल्लास में वे इस पूरे श्लोक को उद्धृत करके लिखते हैं :—

"यह [श्वेताश्वतर] उपनिषद् [४।५] का वचन है। प्रकृति, जीव, और परमात्मा तीनों अज, अर्थात् जिनका

जन्म कभी नहीं और न कभी ये जन्म लेते अर्थात् ये तीन सब जगत् के कारण हैं। इन का कारण कोई नहीं। इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फंसता है, और उसमें परमात्मा न फंसता, न उसका भोग करता है।"

६—त्रैतवाद

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वद्वत्ति
अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥६॥

अर्थ—दो सुन्दर पक्षी आपस में मित्र हैं। दोनों एक ही वृक्ष पर निवास करते है। उन में से एक तो वृक्ष के स्वादिष्ट फलों को खाता हैं, दूसरा बिना खाये ही देखता है और सुप्रकाशित हो रहा है।

विशेष—वह ऊपर ऋग्वेद [१।१६४।२०] का मन्त्र ही उपनिषद्कार नें उद्धृत किया है। महर्षि दयानन्द सरस्वती इसका अर्थ "सत्यार्थ-प्रकाश" के आठवें समुल्लास में ऐसा करते है :—

"(द्वा) जो ब्रह्म और जीव दोनों (सुपर्णा) चेतनता और पालन आदि गुणों से सदृश (सयुजा) व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त (सखाया) परस्पर मित्रतायुक्त, सनातन, अनादि हैं, और (समानम्) वैसा ही (वृक्षम्) अनादि रूप कारण और शाखा रूप कार्ययुक्त वृक्ष अर्थात् जो

होकर प्रलय में छिन्न-भिन्न हो जाता है, यह तीसरा अनादि पदार्थ, इन तीनों के गुण, कर्म और स्वभाव भी अनादि हैं। इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है, वह इस वृक्ष रूप संसार में पाप-पुण्य रूप फलों को (स्वाद्वत्ति) अच्छे प्रकार भोगता है और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को (अनश्नन्) न भोगता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर-बाहर सर्वत्र प्रकाशमान् हो रहा है। जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप तीनों अनादि है।"

त्रैतवाद के प्रतिपादक ऐसे वेद-मन्त्र और भी बहुत हैं। धार्मिक विवादों में वेद का प्रमाण ही सर्वोपरि होता है।

७—जीवात्मा का शोक से छुटकारा

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
अनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यति-अन्यमीशम्-
अस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥७॥

शब्दार्थ :— (समाने वृक्षे) उस एक समान प्रकृति के विकृत ढेर रूपी वृक्ष पर (पुरुषः) जीवात्मा (मुह्यमानः) मोहग्रस्त (निमग्नः) निमग्न, गमगीन, डूबा-डूबा सा (अनीशया) अपनी अन्-ईशता से=परतन्त्रता वा बेबसी के कारण (शोचति) शोकाकुल है। वह (यदा) जब (जुष्टम्) अपने अन्दर व्याप्त (अन्यम्) दूसरे, अपने से भिन्न (ईशम्)

स्वाधीन, सबल, शासक, अपने स्वामी को और (अस्य-महिमानम्) इस की महिमा को (पश्यति) देखता है, तब (वीत शोकः) शोक-रहित होता है। (इति) दुःख-समुदाय से बचने का उपाय यही है।

८—ओङ्कार की महिमा

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन्-देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति,
य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥८॥

शब्दार्थ—(यस्मिन्) जिस (परमे अक्षरे) परमअक्षर (व्योमन्) व्योमन् में=वि+ओम्+अन् में (ऋचः) सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान और (विश्वे देवाः) जड़ तथा चेतन भेद से सभी देव (अधि निषेदुः) अधिकार पूर्वक निवास करते हैं, (यः) जो उपासक (तम्) उसको (न वेद) नहीं जानता, [उस का] (ऋचा किम् करिष्यति) ऋचा क्या करेगी ?=ज्ञान-विज्ञान से उसे क्या लाभ होगा ? और (ये तत् विदुः) जो उसे जानते हैं, जान लेते हैं, (इमे ते इत्) ये वे ही (समासते) सुख से रहते हैं।

विशेष :—वेदों में यह "व्योमन्" पद कई प्रसंगों में दृष्टिगोचर होता है। इसके अर्थवाद भी कई प्रकार के मिलते हैं। इसका विशेष-विचार यहाँ कर्त्तव्य है। ऋग्वेद

का [ऋ. १।१६४।३९] मन्त्र ही उपनिषद्कार ने ऊपर अपना लिया है।

यह "व्योमन्" अक्षर=पद तीन पदों के मेल से बना है। यथा–वि+ओम्+अन्=व्योमन्। इस समस्त पद का अर्थ इस प्रकार है —

वि=विविध रूपा, विविध प्रकार के विशेषणों से संयुक्त, विशेषों के आधार पर जानी जाने वाली, विशिष्ट प्रकृति, इस सृष्टि का उपादान कारण। दार्शनिक इसे "प्रधान" भी कहते हैं। इस के कई अन्य पारिभाषिक नाम भी हैं।

ओम्=परम पुरुष परमात्मा, सर्व रक्षक, सर्व विधाता, गुण कर्म स्वभाव में सर्वोपरि, एक, अखण्ड, अमर सत्ता, विकार रहित, इस विश्वप्रपंच का निमित्त कारण।

अन्=अनति, प्राणति, प्रकर्षेण गतिशीलो भवति, चेतन जीवात्मासमुदाय।

यह जड़—जगम स्वरूप, नाम रूपमय विश्व-प्रपंच इन तीन में ही निवास करता है। एक "व्योमन्" पद के कथन से ही सब का ग्रहण हो जाता है। इस विचार को ही" "त्रैतवाद" कहते हैं। इसके अनुसार इस सृष्टि की पहेली का समाधान यह है कि—नित्य ईश्वर ने, कारण रूप नित्य प्रकृति से, नित्य जीवात्मा-समुदाय के लिये इस सृष्टि की रचना की है।

जब सृष्टि-रचना की इस प्रक्रिया को कोई मनुष्य अपने अन्तरात्मा की साक्षी से पूर्णतया यथावत्‌रूप में जान लेता है, तब वही आप्त अथवा तत्त्वज्ञानी कहलाता है, वही सद्‌गति और ईश्वर-दर्शन की सिद्धि को पाता है।

"सत्यार्थ-प्रकाश" के तीसरे समुल्लास में महर्षि दयानन्द जी ने यह मन्त्र उद्धृत किया है। वहां उन्होंने इस प्रकार दर्शाया है:—

"जिस व्यापक अविनाशी सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर में सब विद्वान् और पृथिवी सूर्य आदि सब लोक स्थित हैं कि जिसमें सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है, उस ब्रह्म को जो नहीं जानता, वह ऋग्वेदादि से क्या सुख प्राप्त हो सकता है? नहीं—नहीं, किन्तु जो वेदों को पढ़के, धर्मात्मा योगी होकर उस ब्रह्म को जानते हैं, वे सब परमेश्वर में स्थित होके मुक्तिरूपी परमानन्द को प्राप्त होते हैं।"

दूसरी बार "सत्यार्थ-प्रकाश" के सातवें समुल्लास के आरम्भ में ही इस मन्त्र को उद्धृत करके वे महर्षि जी फिर लिखते हैं:—

"(ऋचो अक्षरे०) इस मन्त्र का अर्थ ब्रह्मचर्य आश्रम की शिक्षा में लिख चुके हैं। अर्थात् जो सब दिव्य गुण कर्म स्वभाव विद्या युक्त और जिसमें पृथिवी सूर्यादि लोक स्थित हैं और जो आकाश के समान व्यापक सब देवों का देव परमेश्वर है। उसको जो मनुष्य न जानते, न मानते

और उसका ध्यान न करते, वे नास्तिक मन्दमति दुःख सागर में डूबे ही रहते हैं। इसलिए सर्वदा उसी को जानकर सब मनुष्य सुखी होते हैं।"

९—ईश्वर और जीव का भेद

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि,
भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत्—
तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः॥९॥

शब्दार्थ—(छन्दांसि) छन्दों को (यज्ञाः) यज्ञों को (क्रत्वः) ज्योतिष्टोम आदि विशेष यज्ञों को (व्रतानि) व्रतों को (भूतम्-भव्यम्) भूत, भविष्यत् और वर्तमान को (च यत् वेदाः वदन्ति) और वेद जिस का प्रतिपादन करते हैं उस सब कुछ को (अस्मान्) हम को भी—आप को भी (एतत् विश्वम्) इस नाम—रूपमय सम्पूर्ण जगत् को (मायी) वह शक्ति का स्वामी=प्रकृति का अधिष्ठाता (सृजते) रचता है (च) और (तस्मिन्) उसमें ही, (अन्यः) एक वह भी है=जीवात्मा—समुदाय भी हैं, जो कि (मायया) माया द्वारा=प्राकृतिक शरीर द्वारा अथवा वासना- जाल द्वारा (सनिरुद्धः) भली प्रकार जकड़ा हुआ है, आबद्ध है।

विशेष—सच है——

हम खुदा थे गर न होता दिल में कोई मुद्द आ।
अरजुओं ने हमारी, हमको बन्दा कर दिया ॥

१०—माया और महेश्वर

मायां तु प्रकृतिं विद्यात्-
मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु,
व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥१०॥

शब्दार्थ—(मायाम्) माया को तो (प्रकृतिम्) प्रकृति (विद्यात्) समझना चाहिये। (तु) और (मायिनम्) माया के अधिष्ठाता को (महेश्वरम्) महेश्वर समझना चाहिये। (तस्या-अवयव-भूतैः तु) उसके—प्रकृति के अवयव-स्वरूप पंचमहाभूतों से हो (इदम् सर्वम् जगत् व्याप्तम्) यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त सा है, भरा पड़ा है।

अथवा—पंचमहाभूतों के योग से बना हुआ प्राकृतिक जगत् का प्रत्येक अवयव (इदं सर्वम् जगत्) यह सम्पूर्ण जगत् उस परमेश्वर से (व्याप्तम्) व्याप्त है, ओत-प्रोत है।

११—ईश्वर-बोध से शान्ति की प्राप्ति

यो योनिं-योनिमधितिष्ठतिएको
यस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वम् ।

तमीशानं वरदं देवमीड्यम्,

निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥११॥

शब्दार्थ—(यः) जो (एकः) एक=अकेला ही (योनिम् योनिम्-अधितिष्ठति) प्रत्येक कारण, प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक प्राणों का अधिष्ठाता है, अथवा जो प्रत्येक उपादान कारण के प्रत्येक कार्य का निमित्त-कारण है, (यस्मिन्) जिस में (इदम्सर्वम्) यह सब कुछ (सम् च वि च एति) सीधो, तिरछी, उलटी नाना प्रकार की गति-प्रगति करता है—जिससे उपजता है—विकसता है, जिस में रहता है, और फिर जिस में समा जाता है, प्रलय-काल का अन्त होने पर नई सृष्टि का विकास वा प्रकाश आरम्भ होने पर जिस में से ऐसा ही नया प्रपंच—दृश्य जगत् सोये हुए मनुष्य की भांति फिर उठ खड़ा होता है, (तम्) उस (ईशानम्) सब के सर्वोपरि स्वामी (वरदम्) अभिवांछित वरों के प्रदाता (ईड्यम्देवम्) सब के एक मात्र ज्योतिः-स्वरूप उपास्यदेव को (निचाय) निश्चय पूर्वक जानकर, अपनाकर, चुनकर ही [उपासक-समुदाय] (इमाम्) इस (अत्यन्तम्-शान्तिम्) अत्यन्त शान्ति—मोक्षावस्था को (एति) प्राप्त करता है।

अथवा (इमाम् निचाय) इस प्रकृति को छोड़कर-प्राकृतिक मोह-बन्धन को तोड़कर ही-शरीर को अपना

आपा समझना छोड़कर, निज स्वरूप में अवस्थित होकर ही परम शान्ति को प्राप्त करता है।

१२—फिर उत्तम बुद्धि की प्रार्थना

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च,
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानम्,
स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु ॥१२॥

यह श्लोक इस उपनिषद् के तीसरे अध्याय के चौथे श्लोक से मिलता-जुलता है।

शब्दार्थ — (यः) जो (देवानाम्) देवों का, इस सृष्टि के उपादान कारण स्वरूप मूल-प्राकृतिक तत्त्वों का=परमाणुओं का=पंचमहाभूतों का (प्रभवः च उद्भवः च) उद्भव, संरक्षण और संहार करने वाला है, अथवा उद्भव करके इस कार्य-जगत् को फिर कारण-प्रकृति के रूप में परिवर्तित करने वाला है (विश्वाधिपः) अखिल विश्व का प्रशासक, (रुद्रः) दुष्टों को रुलाने वाला, न्यायकारी (महर्षिः) महान क्रान्तदर्शी, वेदों का प्रकाशक-प्रसारक हैं, जिसने (जायमानम्) उत्पन्न होते हुए (हिरण्यगर्भम्) हिरण्यगर्भ को=चमकदार महान गोले को जोकि इस सृष्टि के आरम्भ में बना था=[NEBULA को] (पश्यत) देखा था, (सः) वह (नः) हम को (शुभया बुद्धया) शुभ बुद्धि से (संयुनक्तु) संयुक्त करे।

१३–सुखस्वरूप ईश्वर

यो देवानामधिपो,
यस्मिँल्लोकाधिश्रिताः ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः,
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१३॥

शब्दार्थ :— (यः) जो (देवानाम्) जड़-तत्वों और विद्वानों का (अधिपः) शासक और संरक्षक है, (यस्मिन्) जिसमें (लोकाः) लोक-लोकान्तर (अधिश्रिताः) ठहरे हुए हैं, (यः) जो (अस्य द्विपदः चतुष्पदः) इस दो पांव वाले और चार पांव वाले=मानव वर्गों, पक्षी वर्गों और पशुवर्गों आदि का (ईशे) शासन कर रहा है, उसे (कस्मै देवाय) सुख-स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति के लिये (हविषा विधेम) हम श्रद्धा-भक्ति पूर्वक स्तुति, प्रार्थना और उपासना करते हैं।

विशेष—"कस्मै" पद का अर्थ "एकस्मै" भी होता है, सुखस्वरूप भी। उपासना प्रकरण में तो अपने आपे को—अपने स्वत्व-ममत्व को ही होमा जाता है। यही तन, मन, धन, अपने सर्वस्व का समर्पण है, यही नमस्कार। दो रंगी चालें ईश्वर-भक्ति में बाधक हैं।

जब मैं था तब हरि नहीं, जब हरि हैं मैं नांहि।
प्रेम-गली अति सांकरी, या में दो न समाहिं॥

एवमेव—

चिऊंटी चावल ले चली, आगे मिल गई दार ।
कहे कबीर दोऊ न मिलें, इक ले दूजी डार ॥

तथाच—

ओम् नाम कड़वा लगे, मीठा लागे दाम ।
दुविधा में दोनों गये माया मिली न नाम ॥

१४—सृष्टि का रचयिता

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्यमध्ये,
विश्वस्य स्रष्टारमनेक रूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम्-
ज्ञात्वाशिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥१४॥

शब्दार्थ—(कलिलस्य मध्ये) कलिल के मध्य में (सूक्ष्माति सूक्ष्मम्) सूक्ष्म से भी सूक्ष्म (विश्वस्य स्रष्टारम्) अखिल विश्व के रचयिता (अनेक रूपम्) अनेकों रूपों वाले (विश्वस्य एकम्) सम्पूर्ण विश्व के एक ही (परिवेष्ठितारम्(लपेटने-समेटने वाले सभी पदार्थों और सभी अवकाशों में व्याप्त होकर रहने वाले (शिवम्) शान्ति स्वरूप, कल्याणकारी परमात्मा को (ज्ञात्वा) जानकर [भक्त-समुदाय] (अत्यन्तम्-शान्तिम्-एति) अत्यन्त शान्ति—मोक्ष को प्राप्त करता है ।

विशेष—सृष्टि-उत्पत्ति की प्रक्रिया के आरम्भ होने पर जो "आपः" एक प्रकार का जल या तरल-पदार्थ बनता है, और जिसमें सृष्टि के जड़-चेतन सभी पदार्थों और प्राणियों

के बीज सुरक्षित होते हैं, उसे "कलिल" कहते हैं। इसी प्रकार स्त्री के गर्भाशय में गर्भ स्थिति के समय जो स्त्री और पुरुष का सम्मिलित वीर्य स्थित होता है, जिसके द्वारा गर्भस्थिति होने पर यथासमय सन्तानोत्पत्ति होती है, उसे भी कलिल कहते हैं। उस में भी सन्तान-बीज सुरक्षित होता है।

१५—मृत्यु विजय की युक्ति

य एव काले भुवनस्य गोप्ता
विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः।
यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च,
तमेव ज्ञात्वा मृत्यु पाशांश्छिनत्ति॥१५॥

शब्दार्थ—(यः एव) जो एक ही (काले) समय-समय पर (भुवनस्य गोप्ता) इस विषय-भुवन का प्रकाशक, संरक्षक और संहारक है, (विश्वाधिपः) सबका प्रकाशक है, (सर्वभूतेषुगूढ़ः) सब पदार्थों और सब प्राणियों में निगूढ़ है, (यस्मिन्) जिसमें (ब्रह्म-ऋषयः) वेदों के मर्मज्ञ और सभी उपासक (देवताश्च) तथा देवता=दिव्य गुण, कर्म, स्वभाव वाले। पदार्थ—ज्ञानी, ध्यानी, विज्ञानीगण (युक्ताः) युक्त होते हैं, संयुक्त होते हैं, योगारूढ़ होते हैं, योग-साधन की उच्चतर भूमिकाओं को प्राप्त करते हैं, (तम् एव) उसको ही (ज्ञात्वा) सम्यक्तया जानकर [उपासक-समुदाय]

(मृत्यु-पाशान्) मृत्यु के बन्धनों को (छिनत्ति) तोड़ता है।

१६—पाश-नाश की युक्ति

घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं,
ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम्,
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः ॥१६॥

शब्दार्थ — जो (घृतात् परम्) घृत का भी घृत है, (मण्डम्—इव-अति सूक्ष्मं) जो मण्ड=घी की मलाई के समान सूक्ष्मतर है, सर्वभूतेषु गूढम्) सब पदार्थों और प्राणियों में निगूढ है। (शिवम्) शान्त और कल्याण-कारी है। (विश्वस्य-एकम् परिवेष्टितारम्) विश्व के उस एक अकेले प्रकाशक, संस्थापक, संहारक, सर्वव्यापक, संचालक (देवम्) ज्योतिःस्वरूप देव को (ज्ञात्वा-ज्ञात्वा) वारम्वार जानकर [भक्त-समुदाय] (सर्व-पाशैः) सब बन्धनों से (मुच्यते) छूट जाता है।

१७—विश्वकर्मा महात्मा

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा,
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मनसाभिक्लृप्तो,
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१७॥

शब्दार्थ— (एषः देवः) यह देव (विश्वकर्मा महात्मा)

विश्वकर्मा महात्मा हैं—सर्वशक्तिमान् परमात्मा है, (सदा) सदा ही (जनानाम् हृदये) प्राणियों के हृदय में (संनिविष्टः) समानतया विराजमान्। (हृदा मनीषा) हार्दिकता और सुबुद्धिपूर्ण (मनसा) विचार से (अभिक्लृप्तः) जानने योग्य हैं—जाना जाता है। (ये एतद्विदुः) जो उपासक इस विश्वकर्मा महात्मा को जानते हैं, (ते अमृता भवन्ति) वे अमर हो जाते हैं।

१८—वेद ज्ञान का सनातन प्रकाशक

यदातमस्तन्न दिवा न रात्रिः,
न सन्न चासञ्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यम्—
प्रज्ञा च तस्मात्-प्रसृता पुराणी ॥१८॥

शब्दार्थ— यदा-अतमः) जब ईश्वरीय प्रकाश उदित होता है तब (न दिवा न रात्रिः) दिन, दिन नहीं रहता, रात्रि, रात्रि नहीं रहती, (न सत् न च असत्) सत् और असत्, असत् के लोक-व्यवहार भी नहीं रहते, [तब तो] (शिव एव केवलः) केवल आनन्द ही आनन्द रहता है, अथवा केवल एक आनन्दमय ईश्वर ही अनुभव में आता है। (तत् अक्षरम्) वह अक्षर है—विकार रहित है, (सवितुः) निर्माता है, संसार का प्रसविता है। (वरेण्यम्) वरण करने योग्य भी है और वर्णन करने योग्य भी (च) और

(तस्मात्) उस से ही (पुराणी प्रज्ञा) सनातन वेद विद्या (प्रसृता) प्रकाशित हुई है ।

१९—मूर्ति-पूजा का निषेध

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्च,
न मध्ये परिजग्रभत् ।
न तस्य प्रतिमा अस्ति,
यस्य नाम महद्यशः ॥१९॥

शब्दार्थ–(एनम्) इस ईश्वर को (न ऊर्ध्वम्) न ऊपर से (च) और (न तिर्यम् न इधर उधर से (न मध्ये) न बीच में से (परिजग्रभत्) पकड़ सकते । (तस्य) उसकी (प्रतिमा) मूर्त्ति, नाप, तोल, बराबरी, (न अस्ति) नहीं है, (यस्य नाम महत् यशः) जिसका नाम बड़े यश-वाला है ।

विशेष—इस श्लोक का पूर्वार्ध यजुर्वेद के ३२वें अध्याय के दूसरे मन्त्र का उत्तरार्ध है । और उत्तरार्ध उसी ३२वें अध्याय के तीसरे मन्त्र का पूर्वार्ध है ।

वेदों और उपनिषदों में मूर्ति-पूजा का विधान तो क्या ? इस विषय की कुछ थोड़ी-सी गन्ध भी नहीं है । हां, निषेध तो सुस्पष्ट है । कोई कह सकता है कि अप्राप्त का निषेध कैसा ? समाधान है कि निषेध तो अप्राप्त का भी होता ही है । यथासम्भावित दोषों, दुर्गुणों, पापों और

अपराधों का निषेध । यह इसलिये है कि बुराईं न बढ़े, एवं यदि कभी कहीं कुछ बढ़ ही जाये तो शास्त्र-प्रधान से उस का निवारण हो सके ।

२०—ईश्वर-दर्शन की युक्ति

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य,
न चक्षुषा पश्यति कश्चैनम् ।
हृदा हृदिस्थं मनसा च एनम्
एवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२०॥

शब्दार्थ—(अस्य रूपम्) इसका रूप (संदृशे न तिष्ठति) देखने में नहीं आता । [इसका कोई ऐसा रूप है हो नहीं, जिसे कोई प्राणी अपने चर्म:चक्षुओं से देख सके । अतः] (कः च) कोई भी (एनम्) इसको (चक्षुषा न पश्यति) आंख से नहीं देखता । (ये) जो (हृदिस्थम् एनम्) हृदय में विरजमान् इस ईश्वर को (हृदा मनसा) हार्दिकता और बुद्धि तत्त्व के द्वारा (एवम् विदुः) इस प्रकार जानते हैं, (ते अमृता भवन्ति) वे अमर हो जाते हैं ।

२१—आर्य-विनय

अजात इत्येवं कश्चिद् भीरुः प्रपद्यते ।
रुद्र ! यत्ते दक्षिणं मुखं,
तेन मां पाहि नित्यम् ॥२१॥

शब्दार्थ—(कः चित्) कोई (भीरुः) [धर्मभीरु,

आस्तिक, उपासक (एवम्) इस प्रकार (प्रतिपद्यते) प्रतिपादन करता है (अजात--इति) [वह—तू ही ईश्वर तो] अजन्मा है, नित्य है, जन्म-मरण-रहित है। (रुद्र) हे दुष्टों को रुलाने वाले ! हे न्यायकारिन् ! (यत् ते) जो तेरा (दक्षिणम्-मुखम्) सबल स्वरूप है, दायां-बायां नहीं अपितु दक्षतावाला—परिश्रम को सफलता देने वाला अस्तित्व है, (तेन) उसके द्वारा (माम् नित्यम् पाहि) मेरा निरन्तर संरक्षण कर।

२२—संरक्षण की प्रार्थना

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि,
मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरीषः।
वीरान्मा नो रुद्र ! भामितो वधीः—
हविष्मन्तः सदमित्वा हवामहे ॥२२॥

विशेष—थोड़े पाठ—भेद के साथ उपनिषद्कार ने ऋग्वेद [१।११४।८] और यजुर्वेद [१६।१६] के मन्त्र को ही प्रस्तुत श्लोक का रूप दे दिया है।

शब्दार्थ— (रुद्र) हे दुष्टों को रुलाने वाले न्यायकारिन् ! (मा नः) हम पर (मा नः तोके-तनये—आयुषि) न ही हमारे बेटे पोते और आयुष्य पर (मा नः गोषु) हमारी गौओं पर (मा नः अश्वेषु) न ही हमारे घोड़ों पर (रीरीषः) कोपकर।

विशेष—गौओं में मातृ-भाषा, मातृ-सभ्यता, मातृ-भूमि और अश्वों में हमारे राष्ट्र, सब राष्ट्र सम्मिलित हैं। "अश्व" पद से ही शीघ्रगामी रेलों, जहाजों, मन, प्रकाश, शीघ्र गमन करने वाले सभी यान आदिकों का ग्रहण होता है।

शब्दार्थ—(रुद्र) हे न्यायकारिन्! (नः भामितः) हमारे प्यारे प्रतिभा वाले (वीरान् मा वधीः) वीरों का वध न कर—वध न हो। (हविष्मन्तः) स्तुति, प्रार्थना, उपासना और आत्म-समर्पण करने वाले हम उपासक (सदम्) हे अपने स्वरूप में सुस्थिर देवाधिदेव! (त्वा इत् हवामहे) श्रद्धा भक्तिपूर्वक तुझे ही पुकार रहे हैं। तेरी ही स्तुति, प्रार्थना और उपासना कर रहे हैं।

चौथा अध्याय समाप्त

पांचवां अध्याय

१—त्रैतवाद का स्वरूप

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते,
विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या,
विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥१॥

शब्दार्थ—(द्वे अक्षरे) दो अक्षर हैं—दो विनाशरहित तत्त्व हैं, दो विज्ञान हैं (ब्रह्मपरे) दोनों ही ब्रह्मविषयक हैं, दोनों ही वेद और ईश्वर के परिज्ञान में सहायक हैं।(तु) परन्तु (अनन्ते) वे दोनों अन्तहीन हैं, दोनों का विस्तार अनन्त है। (विद्या-अविद्ये) [वे ये] विद्या और अविद्या ही हैं। [विद्या उपासना-काण्ड है, अविद्या कर्म-काण्ड, एक सांख्य है, दूसरा योग, एक सिद्धान्त है, दूसरा उसका अनुष्ठान। प्रकृति ही अविद्या वा क्षर है, जीवात्मा ही विद्या वा अमृत है।] निहिते) दोनों ही छिपे हुए हैं, [वहां] (यत्र) जहां (गूढे) वे दोनों निगूढ़ता से रहते हैं। [दोनों अपने-अपने स्वरूप में स्थित हैं। दोनों गुप्त और रहस्यमय हैं। दोनों की अपनी-अपनी मर्यादा है।] (तु) परन्तु

(अविद्या क्षरम्) अविद्या क्षर है, या—क्षर ही अविद्या है। [अविद्या क्षीण होने वाली, बदलने वाली, साथ छोड़ने वाली है] (तु) और (विद्या हि अमृतम्) विद्या निस्सन्देह अमृत है, या—निस्सन्देह अमृत ही विद्या है। विद्या तो अक्षर है। विद्या खरने वाली, साथ छोड़ने वाली, बदलने-बदलने वाली नहीं है, अमर है। (तु) और (यः विद्या-अविद्ये ईशते) जो विद्या तथा अविद्या पर शासन करता है, (सः अन्यः) वह इन दोनों से भिन्न एक और ही है।

विशेष—

१—प्रकृति ही अविद्या, क्षर है।

२—जीवात्मा ही विद्या, अमृत, अक्षर है।

३—इन दोनों से भिन्न और इन दोनों का प्रशासक, नियामक या व्यवस्थापक तो परमात्मा ही है।

वेदों और उपनिषदों में विद्या और अविद्या पदों का व्यवहार विभिन्न अर्थों में किया गया है। मनुस्मृति और अन्य प्राचीन ग्रन्थों में इन पदों के पारिभाषिक प्रयोग भी देखने में आते हैं।

२—सृष्टि का निमित्त-कारण

यो योनिं योनिमधितिष्ठति-एको
विश्वानि रूपाणि योनिश्च सर्वाः।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे,
ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥२॥

शब्दार्थ— (यः) जो (एकः) एक, अकेला किसी दूसरे की सहायता के बिना ही (योनिम्-योनिम्) प्रत्येक उपादान कारण और साधारण कारण को (च) और (विश्वानि रूपाणि) सब रूपों को, सब पदार्थों का तथा (सर्वा योनिः) पशु-पक्षी, मनुष्य, वृक्ष आदि सब प्राणियों की सब योनियों को (अधितिष्ठति) अपने अधिकार में रखता—सुव्यवस्थित करता है, (यः) जो (अग्रे) सृष्टि उत्पत्ति के पहले (तम्-कपिलम् ऋषिम्) अल्प ज्ञान वाले जीवात्मा-समुदाय को और (जायमानम्) प्रकट होते हुए (प्रसूतम्) तुरन्त बने हुए विश्व-प्रपंच को (पश्येत्) । देखता (च) और (ज्ञानैः बिभर्ति) अपने नानाविध ज्ञान-सामर्थ्य से इसका संरक्षण एवं पालन-पोषण करता है, [वही इस सृष्टि का निमित्त कारण है ।]

३—सृष्टि का रचयिता एक ही है।

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्—
अस्मिन् क्षेत्रे संहरति-एषः देवः ।
भूयः सृष्ट्वा यतयस्तथेशः,
सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥३॥

शब्दार्थ—(एकः) वह अकेला ही बिना किसी दूसरे की की सहायता के (एकम्-जालम्) एक ही जाल को, प्रत्येक कार्य के उपादान-कारण स्वरूप तानें-बाने को (अस्मिन्

क्षेत्रे) इस दृश्य-जगत् रूपी क्षेत्र में (बहुधा) बहुत प्रकार से (वि-कुर्वन्) विविधता पूर्ण करता हुआ (एषः देवः) यही देव (संहरति) [प्रलय काल में] समेट भी लेता है। (यतयः) हे यतिवरो ! (महात्मा ईशः) वह महिमामय ईश्वर (तथा) उक्त रीति से (भूयः) बारम्बार (सृष्ट्वा) सृष्टि की रचना करके [और फिर उसको समेट कर] (सर्वाधिपत्यम् कुरुते) सबका आधिपत्य करता है।

विशेष—

रचना रचकर बारम्बार।
अपना बाँट रहा जो प्यार॥
यतिवरो उसको लो जान।
जो हम सब का है भगवान्॥

इस श्लोक में ईश्वर को प्रत्येक "जाल" और प्रत्येक "जाल-मूल" का प्रसारक कहा गया है। जाल को प्रसारने और समेटने के कारण ईश्वर का एक नाम "जालवान्" भी प्रसिद्ध हो गया है। यह नाम इस अभिप्राय को दर्शाता है कि जैसे पशु-पक्षी आदि शिकारी के जाल में आबद्ध होते हैं, वैसे ही जीवात्मागण अपने-अपने कर्म-फल-भोगार्थ इस सष्टि में दृष्टि-गोचर होने वाली पशु-पक्षी आदि कीं नाना-विधा योनियों में आबद्ध होते हैं। इस बन्ध और मोक्ष स्वरूप प्रक्रिया का अधिष्ठाता वा व्यवस्थापक तो ईश्वर ही है। क्योंकि कोई भी अपराधी अपनी इच्छा से बन्धन

में नहीं पड़ता। प्रशासक ही अपराधी को बन्धन में डालता है। इसी प्रकार ईश्वर की प्रशासन-व्यवस्था से ही जीवात्मा-गण अपने-अपने शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ फलों को भोगते हैं। भोग और अपवर्ग के लिये ही वह दयामय "जालवान्" इन नानाविध योनियों=शरीरों की व्यवस्था करता है।

४—सब का एक ही प्रशासक

सर्वादिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्
प्रकाशयन्-भ्राजते यदनड्वान्।
एवं स देवो भगवान्-वरेण्यो,
योनि-स्वभावानधितिष्ठति-एकः ॥४॥

शब्दार्थ—(यत् उ) जैसेकि (अनड्वान्) सूर्य (सर्वा दिशः) सब दिशाओं—उपदिशाओं को ऊर्ध्वम्-अधः-तिर्यक्) ऊपर, नीचे, इधर-उधर (प्रकाशयन्-भ्राजते) सुप्रकाशित करता हुआ चमकता है, (एवम्) उसी प्रकार (सः वरेण्यः) वह वरण करने और वर्णन करने योग्य (देवः) ज्योतिः स्वरूप भी (योनि-स्वभावान्) सब उपादान-कारणों और उन-उनके स्वभावों को [प्रकाशता हुआ] (अधितिष्ठति) अधिष्ठित करता है, व्यवस्थित करता है।

५—निमित्त-कारण

यच्च स्वभावं पचति विश्व-योनिः
पाच्यांश्च सर्वान् परिणमायेद् यः।

सर्वमेतद् विश्वमधितिष्ठति-एको
गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद् यः ॥५॥

शब्दार्थः—(यत्) जो (विश्व योनिः) सब उपादान-कारणों को, सब योनियों को (च) और उनके (स्वभावान्) स्वभावों को (पचति) पकाता-परिपक्व करता है, (च) और (यः) जो (सर्वान्) सब (पाच्यान्) पके हुओं को (परिणामयेत्) [उनके] अन्तिम परिणाम तक पहुंचाता है, (च) और (यः) जो (सर्वान् गुणान्) सब गुणों को—सत्व गुण, रजोगुण, तमोगुण, को (विनियोजयेत्) [कार्य-कलापों में] विनियोजित करता है, (एतत् सर्वम् विश्वम्) इस सम्पूर्ण विश्व को (अधितिष्ठति) अपने अधिकार में रखता और संचालित करता है, (एकः) [वह तो] एक ही है।

६—प्राचीन इतिहास का संकेत

तद् वेद गुह्योपनिषत्सु गूढ़ं,
तद् ब्रह्मा वेदते ब्रह्म-योनिम्।
ये पूर्व देवा ऋषयश्च तद्-विदुः-
ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥६॥

शब्दार्थ—(तत् एव) वह ईश्वर ही (वेद गुह्यः) वेदों के रहस्यों में गुप्त है, वही (उपनिषत्सु गूढ़म्) उपनिषदों में प्रतिपादित है। अथवा—वेदों और उपनिषदों के रहस्य उस ईश्वर में ही सुरक्षित हैं। (ब्रह्मा) वेदों का प्रत्येक

ज्ञाता (तत्-ब्रह्म-योनिम्) उस ज्ञान के भण्डार को—ज्ञान के आदि-मूल को (वेदते) जानता है, प्राप्त करता है। (ये पूर्वं देवाः) जो प्राचीन विद्वान् (च) और (ऋषयः) क्रान्तदर्शी, मन्त्र-द्रष्टा (तत् विदुः) उसको जानते थे (वै) निस्सन्देह (ते तन्मयाः) वे ईश्वर की भक्ति में तन्मय रहने वाले सबके सब (अमृताः बभुवुः) अमर हो चुके हैं।

७—जीवात्मा का स्वरूप

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता
कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा,
प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ॥७॥

शब्दार्थ—(यः) जो (गुणान्वयः) विषय-वासना वाला है, (फल-कर्म-कर्त्ता) किसी विशेष फल को प्राप्त करने के लिये ही कर्म करने वाला है, (च सः एव) और वही (तस्य) अपने उस (कृतस्य) कृत कर्म का (उपभोक्ता) फल भोगने वाला हैं (सः त्रिगुणः) वह [देह के अभिमान-वश] तीन गुणों से प्रभावित होनें वाला (त्रिवर्त्मा) [सत्व, रजस् और तमस् भेद से] तीन प्रकार को प्रवृत्तियों वाला (प्राणाधिपः) प्राणों का उपभोग और शरीर में प्राणों का संचार करने वाला [जीवात्मा] (स्वकर्मभिः) स्वतन्त्रता से किये हुए अपने कर्मों के द्वारा ही (संचरित) [शुभाशुभ फलों को यथायोग्य रीति से] सम्यकतया भोगता है।

विशेष—जीवात्मा शुभाशुभ कर्मों के करने में तो स्वतन्त्र है; परन्तु अपने शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ फलों के उपभोग में ईश्वरीय व्यवस्था के आधीन है।

८—जीवात्मा का परिमाण

अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः,
संकल्पाहंकार समन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणानात्मगुणेन चैव,
आराग्रमात्रोह्यि-अपरोऽपि दृष्टः ॥८॥

शब्दार्थ— (यः) जो अंगुष्ठमात्र आकार वाले [सर के पिछले भाग में स्थित छोटे] हृदय में रहता है, (रवितुल्य-रूपः) जो सूर्य के समान तेजस्वी है, जो (संकल्प-अहंकार-समन्वितः) संकल्प-विकल्प और ममत्व=मैं-मेरा—मुझे=मैं—मैं से युक्त है, (च) तथा (बुद्धे गुणेन) बुद्धि के गुण से और (आत्मा गुणेन एव) आत्मा के अपने गुण से भी [युक्त है,] (हि) निस्सन्देह वह (आर-अग्र-मात्रः) आर=सूई की नोक जैसा बहुत ही छोटा (अपरः अपि) दूसरा चेतन तत्त्व=जीवात्मा भी (दृष्टः) प्रत्यक्ष है।

विशेष—जैसे ईश्वर का साक्षात्कार होता है, वैसे उससे भिन्न चेतन-तत्त्व जीवात्मा का साक्षात्कार भी होता है। प्राचीन शास्त्रों में जीवात्मा के लिये जो एक वचन का

प्रयोग प्रायः देखने में आता है, उसे जाति-वाचक ही समझना चाहिये ।

यहां जीवात्मा का परिमाण "अणु" अर्थात् छोटे से भी छोटा—सुस्पष्ट रूप में माना गया है । यही विशुद्ध वैदिक सिद्धान्त है ।

क—प्रकृति सूक्ष्म है; परन्तु प्रकृति के परमाणु संघात रूप में आकारवान् हो जाते हैं । विकृति होने पर वे फिर अपने सूक्ष्म रूप में परिणत हो जाते हैं ।

ख—जीवात्मा सूक्ष्मतर है । जीवात्मा एक देशी है । जीवात्माओं का प्राकृतिक तत्वों के समान संघात-वान् और रूपवान् होना सम्भव नहीं है ।

ग—ईश्वर सूक्ष्मतम है । ईश्वरविभु अर्थात् सर्वव्यापक है । ईश्वर परमाणुओं में भी व्याप्त है, जीवात्माओं भी ।

घ—जीवात्मा मध्यम परिमाण वाला नहीं है । जितना बड़ा कोई शरीर है, उतना ही बड़ा उसका अभि-मानी आत्मा नहीं है । ऐसा कोई मानता भी नहीं है; तथापि देह के अभिमानवश कोई-कोई शरीर को ही जीवात्मा समझने की भूल किया करते हैं ।

ङ—जीवात्मा विभु नहीं है । कोई-कोई यह मानते हैं कि जीवात्मा विभु मानने से जन्म और मृत्यु के अनुक्रम तो व्यर्थ होने ही चाहियें, साथ ही

सर्वज्ञता भी होनी चाहिये। इस पक्ष में बहुत दोष हैं।

च—कोई-कोई ईश्वर को ही जीवात्मा और जीवात्मा को ही ईश्वर बताते हैं। उनके मत तर्क की कसौटी पर खोटे सिद्ध हो चुके हैं।

प्राचीन ढंग की बैल गाड़ी आदि के गाड़ीवान् बैलों को हांकने के लिये अपने पास जो चाबुक रखते हैं, उस के अग्र भाग में एक सूई लगी रहती है, जो कि "आर" कहलाती है। वह कभी-कभी बैलों को चुभोने के काम आती है। ऐसा करने से बैलों की चाल तेज हो जाती है। उस सूई की नोक से उपमा देकर यहां जीवात्मा की सूक्ष्मता और उसके अणु-परिमाण को दर्शाया गया है। चर्मकार का जूते सीने में सहायक एक उपकरण भी "आर" कहलाता है।

जीवात्मा के सूक्ष्म परिमाण को ही फिर दर्शाते हैं—

९ — जीवात्मा के अणु-परिमाण का विचार

बालाग्रशतभागस्य,
शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः,
स चानन्त्याय कल्पते ॥९॥

शब्दार्थः— यदि (बालाग्र शत भागस्य) बाल के

अग्र भाग के सौवें भाग के (च) और उस के भी (शतधा कल्पितस्य) सौ भाग कल्पित करें, तब (सः भागः) वह भाग (जीवः विज्ञेयः) जीव का परिमाण समझना चाहिये (सः च) और वह [इतना सूक्ष्मतर होने पर भी] (आनन्त्याय कल्पते) अनन्त कहलाता है।

विशेष — यहां "अनन्त" का विचार कई प्रकार से युक्त होता है। जीवात्मा का सर्वनाश=सर्वथा अभाव तो कभी सम्भव है ही नहीं। अतः वह अनन्त-काल तक=सदैव वर्तमान रहता है।

दूसरे सूक्ष्मतर होने से भी वह ईश्वर के सिवा और किसी की पकड़ में कभी नहीं आता। मानवी-गणना के अनुसार जीवात्माओं की संख्या अनन्त है।

१० — जीवात्मा का लिंग-भेद नहीं होता

नैव स्त्री न पुमानेष, न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते, तेन-तेन स रक्ष्यते ॥१०॥

शब्दार्थ — (एषः) यह जीवात्मा (न एव स्त्री) न ही स्त्री है, (न पुमान्) न पुरुष, (च) और (अयम्) यह (नपुंसकः एव न) नपुंसक भी नहीं। (सः) वह (यत्-यत्) जिस-जिस=जैसे-जैसे (शरीरम् आदत्ते) शरीर को धारता है, (तेन-तेन रक्ष्यते) उस-उससे रक्षित होता है।

विशेष — लिंग-भेद में शरीर की ही प्रधानता है। ईश्वर के विषय में भी ऐसा कथन इस उपनिषद् [४।३] में हो चुका है।

११ — देह-प्राप्ति का सिद्धान्त

संकल्पन स्पर्शन दृष्टिमोहैः,
ग्रासाम्बुवृष्टया चात्मविवृद्धि जन्म।
कर्मानुगानि-अनुक्रमेण देही,
स्थानेषु रूपाणि-अभिसंप्रपद्यते ॥११॥

शब्दार्थ— (देही) जीवात्मा (संकल्पन) संकल्प से (स्पर्शन) स्पर्श से (दृष्टि) दृष्टि से (मोहैः) मोह आदि से (स्थानेषु) विविध प्रकार के शरीरों में (कर्मानुगानि) कर्मों के अनुसार (रूपाणि) आकार-प्रकारों को (अभि-संप्रपद्यते) नियमानुसार प्राप्त होता है। (च) और (अनुक्रमेण) अनुक्रमपूर्वक (ग्रास-अम्बु-वृष्ट्या) खान, पान और वर्षा आदि से (आत्म-विवृद्धि-जन्म) अपने शरीर की वृद्धि तथा नये शरीर को भी (संप्रपद्यते) नियमानुसार प्राप्त होता है।

१२ — विविध प्रकार के शरीर

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव,
रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।
क्रियागुणैरात्म गुणैश्च तेषां,
संयोगहेतुरपरोपि दृष्टः ॥१२॥

शब्दार्थ — (देही) जीवात्मा (स्थूलानि) स्थूल, (सूक्ष्माणि) सूक्ष्म (च एव) और भी कई प्रकार के (रूपाणि) रूपों को=आकार-प्रकारों को=शरीरों को (स्व-गुणैः) अपने गुणों=पुण्य-पापमय कर्मों से=कर्मों के आधार पर ही (वृणोति) वरता है। फिर (तेषाम्) उन शरीरों के (क्रियागुणैः) कर्म प्रभावों से (च) और (आत्मा-गुणैः) अपने संकल्पों, संस्कारों आदि से (संयोगहेतुः) जीवात्माओं और शरीरों के संयोग का हेतु (अपरः अपि दृष्टिः) अन्य भी देखा जाता है। या कर्म-फलों का नियामक (अपरः) जीवों से भिन्न ईश्वर भी (दृष्टः) दृष्टि में आया है।

१३ — शरीर-बन्धन से मुक्ति

अनाद्यनन्तं कलिलस्यमध्ये,
विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परि-वेष्टितारम्,
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः १३॥

शब्दार्थ— (अनादि-अनन्तम्) जिसका न कोई आरम्भ है, न कोई अन्त (कलिलस्य मध्ये) कलिल के मध्य में=सृष्टि के आरम्भिक तरल-पदार्थों में और माता के गर्भ में (विश्वस्य) विश्व के (अनेकरूपम्) अनेक रूपों=अनन्त रूपों=सभी रूपों वाले (स्रष्टारम्) उस महान निर्माता को तथा (विश्वस्य) विश्व के (एकम्) एक

[illegible]—अकेले (परिवेष्टितारम्) धारक, व्यापक और संहारक (देवम्) सर्वोपरि दानी और ज्योतिः स्वरूप ईश्वर को (ज्ञात्वा) जानकर [देहधारी] (सर्व-पाशैःमुच्यते) सब बन्धनों से छूट जाता है।

१४—शरीर-प्राप्ति का मुख्य-उद्देश्य

भावग्राह्यमनीडाख्यं,
भावाभावकरं शिवम्।
कला सर्गकरं देवं,
ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥१७॥

शब्दार्थ—(भावग्राह्यम्)श्रद्धाभाव से प्राप्त होने वाले (अनीड) शरीर-रहित (आख्यम्) आख्यान करने योग्य, (भाव-अभाव-करम्) सृष्टि का प्रसार और संहार करने वाले (शिवम्) कल्याणकारी (कला-सर्ग-करम्) सब कलाओं और कार्य-जगत् के उत्पादक (देवम्) देवों को (ये विदुः) जो जानते हैं, (ते) वे (तनुम् जहुः) शरीर को छोड़ देते हैं।

विशेष—इस शरीर-प्राप्ति का मुख्य-उद्देश्य आत्म-बोध, ब्रह्म-बोध और मोक्ष-प्राप्ति ही है। उद्देश्य पूरा होने पर शरीर को कोई भी आवश्यकता नहीं रह जाती। अतः यह शरीर त्याग दर्शाया गया है।

जिस मरने से जग डरे
मेरे मन आनन्द ।
मरने से ही पाइये,
पूर्ण, परमानन्द ॥

पांचवां अध्याय समाप्त

छठा अध्याय

विशेष—इस उपनिषद् का यह अन्तिम अध्याय उपसंहार स्वरूप है। पहले अध्याय के चौथे श्लोक में उपनिषद्कार ने सांख्य-सिद्धान्तानुसार जिन तत्वों का प्रतिपादन किया था, उनकी ओर संकेत करते हुए यहां फिर इस सृष्टि के निमित्त-कारण ईश्वर की महिमा दर्शाते हैं—

१—उपसंहार का प्रारम्भ

स्वभावमेके कवयो वदन्ति,
कालं तथान्ये परिमुह्यमाना: ।
देवस्यैष महिमा तु लोके,
येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥१॥

शब्दार्थ — (एके कवयः कोई-कोई विद्वान् तो (स्वभावम् वदन्ति) स्वभाव को ही जगदोत्पत्ति का मुख्य कारण बताते हैं। (अन्ये परिमुह्यमानाः) दूसरे पूर्णतया मोहग्रस्त जनः (तथा) उसी प्रकार (कालम्) काल को जगदोत्पत्ति का मुख्य कारण बताते हैं। (लोके) लोक में (एष महिमा तु) यह महिमा तो (देवस्य) उस परमदेव की ही है, (येन-इदम्-ब्रह्म-चक्रम्-भ्राम्यते जिसके द्वारा यह ब्रह्म-चक्र घुमाया जा रहा है।

२—कर्म-प्रवाह का संचालक

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वम्—

ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः।

तेनेशितं कर्म विवर्तते ह,

पृथ्वि-अप्तेजोऽनिलखानिचिन्त्यम् ॥२॥

शब्दार्थ—(येन इदम् सर्वम्) जिसके द्वारा यह सब कुछ (नित्यम् हि आवृतम्) सदा ही व्याप्त है जो (ज्ञः) ज्ञान स्वरूप (कालकारः) काल का उपभोक्ता, काल का भी काल, काल को व्यावहारिक रूप देनेवाला (गुणी) सकल गुणागार, (सर्वविद्यः) सब विद्याओं का ज्ञाता, आप्त काम, सकल ऐश्वर्य का भण्डार है, (तेन इशितम्) उसके प्रशासन में (ह) हो (पृथ्वि, अप, तेज, अनिल, खानि) पृथ्वि, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच महाभूतों

और इन सबके मिश्रित-अमिश्रित विकारों का (कर्मविवर्तते) कर्म-प्रवाह=कार्य-प्रवाह चलता है। (चिन्त्यम्) यह एक ऐसा विषय है जिसका विचार सभी को करना चाहिये।

३—वह अलौकिक लीलाधर

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयः,
तत्त्वस्य तत्वेन समेत्य योगम्।
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा,
कालेन चैवात्मगुणैश्चसूक्ष्मैः ॥३॥

शब्दार्थ—[इस सृष्टि-रचना रूप कर्म में न तो ईश्वर को कोई विशेष आयास करना पड़ता है, न ही निरन्तर व्यस्त रहना पड़ता है।] (तत्कर्म कृत्वा) उस सृष्टि-रचना रूप कर्म को करके वह भूयः विनिवर्त्य फिर निवृत्य होकर (तत्त्वस्य तत्त्वेन) तत्व का तत्त्व के साथ (एकेन द्वाभ्याम्) एक तत्त्व से, दो तत्त्व से, (त्रिभिः) तीन तत्वों से (वा अष्टभिः) या आठ तत्त्वों से (च एव) और भी इसी प्रकार (कालेन) काल से (च) और (सूक्ष्मैः आत्मगुणैः) सूक्ष्मतम आत्म-तत्त्व-जीवात्मा समुदाय और उसके दिव्य, गुण, कर्म एवं स्वभाव के साथ (योगम् समेत्य) योग=सहयोग स्थापित करके [वह निवृत्य हो जाता है और सब काम नियमानुसार होते रहते हैं।]

४—निष्काम कर्म का प्रभाव

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि,
भावांश्च सर्वान्-विनियोजयेद्यः ।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः,
कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ॥४॥

शब्दार्थः— यः) जो कोई (गुणान्वितानि) शुभ (कर्माणि) कर्मों को (आरभ्य आरम्भ करके (सर्वान् भावान् स्वार्थपूर्ण भावों को (च) और ममत्व को (विनियोजयेत्) त्याग देता है, (तेषाम्—अभावे) उनके अभाव में (कृत—कर्म-नाशः) उसके किये हुए कर्मों के फलों का नाश हो जाता है, कर्म-बन्धनों का नाश हो जाता है, (कर्मक्षये) कर्मों का क्षय होने पर (सः) वह [शुभकर्मकर्त्ता अपनी निष्कामता के प्रभाव से और] (तत्त्वतः) ईश्वर की कृपा से (तत् याति) ईश्वर को प्राप्त करता है।

दिया अपनी खुदी को जो हमने मिटा
वह जो परदा-सा बीच में था न रहा ।
रहा परदे में अब न वह परदावशीं,
कोई दूसरा उसके सिवा न रहा ॥

विशेष—जगत् की रचना में ईश्वर का अपना कोई स्वार्थ नहीं है। न उसकी कोई कामना है, न ही कोई

आसक्ति। उसकी यह परम निष्कामता, असंगता और अलिप्तता है। हां, इस कर्म में उसकी उदारता और दयालुता तो पाई जाती है। क्योंकि सृष्टि-रचना से जीवात्मा-समुदाय को भोग और अपवर्ग-प्राप्ति के नये-नये अवसर प्राप्त होते हैं। ईश्वर की इस निष्कामता को नये और पुराने सभी विचारक एक स्वर से स्वीकार करते हैं।

किसी को ऐसा भी नहीं कहना चाहिये कि 'ईश्वर ने बन्दे को अपनी बन्दगी के लिये पैदा किया है।" ऐसे कथन से ईश्वर बन्दगी का मोहताज माना जायेगा, जोकि वास्तविकता के विपरीत है। जीवात्मागण अपने कल्याण के लिये ही ईश्वर की बन्दगी अर्थात् उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना किया करते हैं। बन्दगी जीवात्मा का कर्त्तव्य है। इस विनयशीलता से जीवात्मा का कल्याण होता है। अतः यह विनयशीलता जीवात्मा के लिये विशेष लाभदायक है; परन्तु ईश्वर किसी की बन्दगी का भूखा नहीं है। बन्दगी करना किसी पर कोई अहसान करना भी नहीं है। ईश्वरीय निष्कामता के अनुकरण से मानव-जीवन की बहुत-सी उलझनें अनायास ही सुलझ जाती हैं।

५—उपासना का आदेश

आदिः स संयोग-निमित्तहेतुः,

परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।

तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं,
देवं स्वचित्तस्थमुपास्यपूर्वम् ।।५।।

शब्दार्थ—(सः) वह (आदिः) सबसे पहले है, आरम्भ है। [इस सृष्टि और इसके सब विकारों के विकसित होने वा प्रकाश में आने से पूर्व भी वह तो था ही, वह तो सदैव एक-रस रहता ही है।] (संयोग-निमित्त-हेतुः) इस सृष्टि-प्रवाह में जो संयोग, वियोग और परिवर्तन आदि होते हैं, उनके कारणों का भी निमित्त कारण वह ईश्वर ही है। (त्रिकालात् परः) वह भूत, भविष्य और वर्तमान् के काल-बन्धन से परे है।

(अकलो-अपि) वह तो कलाओं से भी रहित है। [उस में कोई घटा-बढ़ी नहीं होती। कोई अंश-अंशी-भाव उस का नहीं है। उसका अस्मदादिवत् कोई अवयव नहीं है। (दृष्टः) उसे देखा गया है। [तत्त्वज्ञानियों ने उसे ऐसा ही देखा है, जैसा कि वह है। उसका साक्षात्कार होता है और हो भी चुका है। उसका प्रत्यक्ष लौकिक प्रत्यक्ष से कुछ भिन्न प्रकार का है।]

(तम्) उस (विश्वरूपम्) विश्वरूप को, सबको रूप-दान देने वाले को, यह विश्व ही जिसका रूप है, उसको, अथवा सब रूप ही जिसके रूप है, भवभूतम्) जग-दोत्पादक, सबके कृपालु, (ईड्यम्) उपासना करने योग्य,

(स्व-चित्तस्थम्) अपने ही अन्तरात्मा में अवस्थित (देवम्) ज्योतिर्मयी दिव्य सत्ता को (पूर्वम्) सबसे पहले (उपास्य) उपास।

विशेष—उपासक ! सबसे पहले तू उसकी ही उपासना कर। तू तर्क, वितर्क और चिन्ता क्यों करता है ? विधि-पूर्वक उपासना ही कर। तेरा अपना अन्तारात्मा ही उस की सत्ता और महत्ता का साक्षी बनेगा। उसके विषय में तेरा अपना अनुभव ही परम-प्रमाण होगा। तेरी सब शंकाओं का समाधान हो जायेगा। बस, तू तो मनसा, वाचा, कर्मणा उपासना ही कर। समय आने पर वह अपने आप ही बोल उठेगा :—

खानये दिल में छिपा था मुझे मालूम न था।
परदा ग़फलत का पड़ा था मुझे मालूम न था ॥

हे साधक !

अलख तत्त्व की आरसी,
साधु की ही देह।
लखा जो चाहे अलख को
इसमें ही लख लेय ॥

६—ब्रह्मज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो,
यस्मात् प्रपंचः परिवर्ततेऽयम् ।

धर्मावहं पाप-नुदं भगेशम्,
ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥६॥

शब्दार्थ —(सः) वह (वृक्ष-काल-आकृतिभिः) वृक्ष, काल और आकृति से (परः अन्यः) परे और अन्य प्रकार का ही है, (यस्मात्) जिससे कि (अयम्) यह (प्रपंचः) विश्व-प्रपंच (परिवर्तते) परिवर्तित होता है। उस (धर्माव-हम्) धर्म के संस्थापक, (पापनुदम्) पाप के प्रणाशक (भग-ईशम्) ऐश्वर्य के स्वामी (अमृतम्) अजर-अमर (आत्म-स्थम्) आत्मा में व्यापक, घट-घटवासी को (ज्ञात्वा) जान कर (विश्वधाम) मोक्षधाम प्राप्त होता है।

"भग" शब्द के छः अर्थ होते हैं :—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, धर्मस्य, यशसश्श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव, षण्णां भग इति-ईरणा ॥

महाभारत, विराट् पर्व० ६।५।७४

सब प्रकार के ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य "भग" शब्द के ये छः अर्थ हैं।

७—अपरोक्षानुभूति

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं,
तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्—
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥७॥

शब्दार्थ—हम (तत्) उस (ईश्वराणाम् परमम् महेश्वरम्) स्वामियों के भी सर्वोपरि स्वामी (च) और (तम्) उस (देवतानाम् परमम् च दैवतम् देवों के भी परम देव को (पतिनाम् परमम् पतिम्) पतियों के भी सबसे बड़े पति को (भुवन-ईशम्) इस अखिल विश्व के सर्वोपरि-शासक (ईड्यम् देवम्) सबके स्तुति, प्रार्थना और उपासना करने योग्य देव को (परस्तात्) परोक्ष से [अपरोक्ष रूप में] विदाम) प्राप्त करते हैं।

८—अनन्त शक्तियों का भण्डार

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते,
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते,
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥८॥

शब्दार्थ—(तस्य) उसका कोई (कार्यम्) कार्य (च) और (करणं) कारण, अवयव या उपकरण (न विद्यते) नहीं है। च) और (तत्समः उस जैसा (च) या (अधिकः) उससे बढ़कर भी कोई (न अभि-दृश्यते) नहीं दिखाई देता (अस्य शक्ति-परा) उसकी शक्ति सर्वोपरि (विविधा एव श्रूयते) एवं विविध प्रकार की है—सदा से ऐसा ही कहने-सुनने में आ रहा है। (च) और उसकी (ज्ञान-बल-क्रिया) ज्ञान, बल और क्रिया—उसके सम्पूर्ण गुण, कर्म और स्वभाव

भी (स्वाभाविकी) स्वाभाविक ही हैं—सदा से हैं और सदैव रहने वाले हैं।

विशेष—उस महान कर्त्ता का कर्त्ता कोई नहीं है। उस महान प्रशिक्षक का प्रशिक्षक कोई नहीं है। उसका प्रेरक कोई अन्य नहीं है। उसका ज्ञान, उसका बल, उसकी क्रिया, उसके विविध प्रकार के सब गुण, कर्म और स्वभाव उसके अपने ही हैं।

९—स्वयम्भू, स्वामी, कारणों का भी कारण

न तस्य कश्चित्-पतिरस्ति लोके,
न चेशिता नैव च तस्य लिंगम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो,
न चास्यकश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥९॥

शब्दार्थ—(लोके) लोक में (तस्य) उसका (कश्चित्) कोई भी (पतिः न अस्ति) पति नहीं है। (च) और (ईशिता न) उस पर शासन करने वाला भी कोई नहीं। (च एव) एवमेव (तस्य लिंगम् न) उसका कोई विशेष निशान भी नहीं। (सः) वह तो (कारणम् करणाधिपः) कारणों के कारणों और उपकरणों का भी संरक्षक है, इन्द्रियों के स्वामी जीवात्माओं का भी अधिष्ठाता है। (च) और (तस्य) उसका (कश्चित्) कोई (जनिता न)

जनक नहीं है (च) और (अधिप: न) प्रेरक, अधिष्ठाता या संरक्षक भी नहीं है।

१०—उपासक की हार्दिक कामना

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत् । स नो दधाद्—ब्रह्माप्ययम् ॥१०॥

विशेष—इस छन्दोबद्ध-रचना में यहां यह गद्य-गीत क्यों ? किसने इसे रचा ? यह उपनिषद्कार का रचित मौलिक अंश है, या किसी भाष्यकार के व्याख्या विस्तार का प्रार्थना-वाक्य ? अब इन बातों का अनुसंधान कठिन है।

शब्दार्थ.—(यः) जो (एकः) एक, अकेला किसी दूसरे की सहायता के विना ही)स्वभावतः) अपनी आत्म-प्रेरणा से (स्वाम्) अपने आपको (प्रधानजैः) प्रकृति से (तन्तुनाभ इव) मकड़ी के समान (अवृणोत्) बुनता है, प्रसारता है, उलझाता है, (सः) वह (नः) हमें (ब्रह्म-आप्ययम्) ब्रह्म का सामीप्य, ब्रह्म-बोध=प्रकृति-बोध, आत्म-बोध और ईश्वर-बोध प्रदान करे।

विशेष—जैसे मकड़ी अपने अन्दर वर्तमान तत्त्वों से अपने जाले को बनाती है, वैसे ही सर्वव्यापक ईश्वर प्रकृति से इस दृश्य और अदृश्य जगत् के ताने-बाने को बुनता है और वह फिर इसे ओढ़ भी लेता है। इसमें छिप भी जाता है। यह ईश्वर की व्यापकता का ही आलंकारिक उल्लेख

है। ईश्वर की सिद्धि में उसकी यह सृष्टि ही प्रत्यक्ष प्रमाण है।

कुछ लोग मकड़ी और उसके जाले के उदाहरण से यह दर्शाया करते हैं कि ईश्वर ही इस सृष्टि का उपादान कारण भी है। ईश्वर ही जड़-जगत् के रूप में भासता है, प्रकृति का कोई वास्तविक और तात्त्विक स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। ऐसे लोग जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता को भी नहीं स्वीकारते। परन्तु यह मकड़ी का दृष्टान्त उनके पक्ष का साधक नहीं, बाधक ही है। मकड़ी के जाले का उपादान कारण भूत द्रव्य तो मकड़ी के शरीर में वर्तमान होता ही है। उपनिषद्कार ने यह "प्रधानजैः" कहकर विवाद की जड़ ही काट दी है। (दार्शनिक-भाषा में "प्रधान" शब्द से प्रकृति का ही ग्रहण होता है, यह सर्वविदित है।

११—सगुण और निर्गुण

एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः,

सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः,

साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥११॥

शब्दार्थ—[सब मनुष्यों का आराध्य (देवः) देव तो (एकः) एक ही है। वह (सर्वभूतेषु गूढः) सब पदार्थों और सब प्राणियों में गुप्तरूप से निवास करता है, (सर्वव्यापी)

सर्वव्यापक है, (सर्वभूतान्तरात्मा) सब प्राणियों के अन्तरात्मा में भी उसका आवास है। (कर्माध्यक्षः) सब जीवों के शुभाशुभ कर्मों के यथायोग्य फलों का प्रदाता और अध्यक्ष भी वही है, (सर्वभूताधिवासः) सब लोक-लोकान्तर, पदार्थ और प्राणी उसमें ही आश्रय प्राप्त कर रहे हैं, (साक्षी:) सब प्राणियों के शुभाशुभ, कायिक, वाचनिक और मानसिक सभी कर्मों का साक्षी=द्रष्टा भी वही है, (चेता) वह चेताने वाला, प्रेरणा देने वाला सचेतक भी है। (केवलः) वह केवली है, संगदोष रहित है, अवयव-रहित, विकार-रहित आसक्ति-रहित (च) और (निर्गुणः) निर्गुण भी वही है।

विशेष—ईश्वर के जिस सगुण और निर्गुण स्वरूप का यहां उल्लेख है वह इस योग्य है कि सभी पाठक और विशेष रूप से सभी उपासक उसे भली प्रकार से समझ कर हृदयंगम करलें। ऐसा होने पर उपासना-कर्म को प्रायः सभी उलझनों को सुलझाया जा सकेगा। और उपासना के लाभ भी सुनिश्चित हो जायेंगे।

ईश्वर सब को चेतावनी देने वाला है, यह अत्यन्त कल्याणकारी सूत्र यहां मिलता है। महर्षि दयानन्द लिखते हैं :—

"जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और मन का शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध; सुख, दुःख, सत्यासत्य विषयों

के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं; परन्तु वह निर्भ्रम हो, अब विचारना चाहिये कि इन्द्रियों और मन के गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणी का नहीं। जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों के स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथिवी उस का आत्मयुक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है, वैसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना विशेष आदि ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होनें से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है। और जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय जीव की इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाती है। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम में भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशंकता और आनन्दोत्साह उठता है। वह जीवात्मा की ओर से नहीं; किन्तु परमात्मा की ओर से है। और जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है, उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं।"

[सत्यार्थप्रकाश, सातवां समुल्लास]

महर्षि दयानन्द प्राचीन महर्षियों के समान ही ईश्वर सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकारते हैं। पाप वा पुण्य के

अनुष्ठान में ईश्वर की ओर से चेतावनी का मिलना, हमारे अपने-अपने अनुभव से भी पुष्ट होता है। ईश्वर के संकेतों को समझना और पापावरण से बचकर ईश्वरोपासना करना ही मानवता है।

सगुण और निर्गुण ईश्वर के विषय में पौराणिक मतवादियों ने बहुत से भ्रान्त विचार जनता में फैला दिये हैं। उनके कारण जिज्ञासु जनों को विशुद्ध ईश्वर-बोध-प्राप्ति में बहुत कठिनाई होती है। उस कठिनाई के निवारण के लिये वर्तमान युग के महान वेदज्ञ, धर्मोद्धारक और वेदभाष्यकार महर्षि दयानन्द सरस्वती के उल्लखों से ही सर्वाधिक सहायता मिलती है। देखिये—

"सगुणनिर्गुणस्तुति प्रार्थनोपासना—जो-जो गुण परमेश्वर में हैं, उनसे युक्त, और जो-जो नहीं हैं, उनसे पृथक् मानकर प्रशंसा करना, सगुण-निर्गुण स्तुति, शुभ गुणों के ग्रहण की इच्छा और दोष छुड़ाने के लिये परमात्मा का सहाय चाहना सगुण निर्गुण प्रार्थना और सब गुणों से सहित, सब दोषों से रहित परमेश्वर को मानकर अपने आत्मा को उसके और उसकी आज्ञा के अर्पण कर देना सगुण निर्गुणोपासना है।"

[स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश, संख्या-५१]

निर्गुणोपासना—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग,

वियोग, हलका, भारी, अविद्या, जन्म, मरण और दुःख आदि गुणों से रहित परमात्मा को मानकर जो उसकी उपासना करनी है, उसको निर्गुणोपासना कहते हैं।"

[आर्योद्देश्यरत्नमाला, रत्न सं०-२७]

"सगुणोपासना—जिसको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, नित्य, आनन्द, सर्वव्यापक, एक, सनातन, सर्वकर्त्ता, सर्वाधार, सर्वस्वामी, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, मंगलमय, सर्वानन्दप्रद, सर्वपिता, सब जगत् का रचने वाला, न्यायकारी, दयालु आदि सत्यगुणों से युक्त जान के जो ईश्वर की उपासना करनी है, सो सगुणोपासना कहाती है।"

[आर्योद्देश्यरत्नमाला, रत्न सं०—२८]

महर्षिवर अपने महान ग्रन्थ "सत्यार्थप्रकाश" में लिखते हैं :

प्रश्न—परमेश्वर सगुण है, वा निर्गुण ?

उत्तर—दोनों प्रकार है।

प्रश्न—भला एक घर में दो तलवार कभी रह सकती हैं। एक पदार्थ में सगुणता और निर्गुणता कैसे रह सकती है ?

उत्तर—जैसे जड़ के रूपादि गुण हैं और चेतन के ज्ञानादि गुण जड़ में नहीं हैं। इसलिये—

"यद्गुणैः सहवर्तमानं तत्सगुणम्"
"गुणेभ्यो यन्निर्गतं पृथग्भूतं तन्निर्गुणम्"

जो गुणों से सहित वह सगुण और जो गुणों से रहित वह निर्गुण कहाता है। अपने-अपने स्वाभाविक गुणों से सहित और दूसरे विरोधी के गुणों से रहित होने से सब पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है कि जिसमें केवल निर्गुणता वा केवल सगुणता हो। किन्तु एक ही में सगुणता और निर्गुणता सदा रहती है। वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त ज्ञान, बलादि गुणों से सहित होने से सगुण और रूपादि जड़ के तथा द्वेषादि जीव के गुणों से पृथक् होने से निर्गुण कहाता है।

प्रश्न—संसार में निराकार को निर्गुण और साकार को सगुण कहते हैं। अर्थात् जब परमेश्वर जन्म नहीं लेता तब निर्गुण और जब अवतार लेता है, तब सगुण कहाता है?

उत्तर—यह कल्पना केवल अज्ञानी और अविद्वानों की है। जिसको विद्या नहीं होती, वे पशु के समान यथा-तथा बड़ाया करते हैं, जैसे सन्निपात ज्वरयुक्त मनुष्य अण्डबण्ड बकता है, वैसे ही अविद्वानों के कहे वा लेख को व्यर्थ समझना चाहिये।

[सत्यार्थ प्रकाश, सातवां समुल्लास]

१२—परमात्मा का आवास

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनां
एकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः—
तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१२॥

शब्दार्थ—(एकः) एक—अकेला ही (बहूनाम्-निष्क्रियाणाम्) बहुत-से जड़-पदार्थों को तथा क्रिया-शून्य पदार्थों को भी (वशीः) अपने वश में रखने वाला है, (यः) जो (एकम्-बीजम्) एक ही बीज को (बहुधा करोति) बहुत कर देता है, (तम्-आत्मस्थम्) उस अन्तरात्मा में स्थित भगवान् को (ये धीराः) जो धैर्यशील बुद्धिमान् (अनुपश्यन्ति) प्रत्यक्ष देख लेते हैं, (तेषाम्-सुखम्-शाश्वतम्) उनका सुख ही चिरस्थायी है, (इतरेषाम् न) दूसरों का नहीं ।

विशेष—यहां जीवात्मा के अन्दर ईश्वर की स्थिति बतलाने के लिये जो "आत्मस्थम्" पद-प्रयोग है । इससे महर्षि दयानन्द सरस्वती का मन्तव्य विशेषरूप से पुष्ट होता है । अथवा कहना चाहिए कि महर्षि दयानन्द जी भी अपने लेखों से उपनिषद् द्वारा निर्दिष्ट विचार का ही सम्पोषण करते हैं । महर्षिवर ईश्वर की



सर्वव्यापकता को मानकर जीव के अन्दर भी ईश्वर को व्यापक मानते हैं।

विषय की गम्भीरता को ध्यान में रखकर यहां पुनरपि उनके उल्लेख प्रस्तुत किये जा रहे हैं :—

"जैसे लोहा स्थूल अग्नि सूक्ष्म होता है, इस कारण से लोहे में विद्युत अग्नि व्यापक होकर एक ही अवकाश में दोनों रहते हैं, वैसे जीव परमेश्वर से स्थूल और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म होने से परमेश्वर व्यापक और जीव व्याप्य है। जैसे यह व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध जीव ईश्वर का है, वैसे ही सेव्य-सेवक, आधाराधेय, स्वामीभृत्य, राजा-प्रजा और पिता-पुत्र आदि का भी सम्बन्ध है।"

[सत्यार्थ प्रकाश, सातवां समुल्लास]

वे आगे फिर लिखते हैं—

"समाधिदशा में जब योगी को परमेश्वर प्रत्यक्ष होता है, तब वह कहता है कि यह जो मेरे में व्यापक है, वही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है। इसलिये जो आजकल के वेदान्ती जीव ब्रह्म की एकता कहते हैं, वे वेदान्तशास्त्र को नहीं जानते।"

["सत्यार्थप्रकाश, सातवां समुल्लास]

प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में जब ईश्वर महर्षियों के हृदय में वेदों का प्रकाश करता है, तब वह उनके अन्दर

रहता हुआ अपने आत्मस्थ रूप से ही महर्षियों को वेद-ज्ञान देता है। महर्षि जी सत्यार्थप्रकाश के सातवें समुल्लास में ही दर्शाते हैं—

"जब परमेश्वर निराकार सर्वव्यापक है, तो अपनी अखिल वेद विद्या का उपदेश जीवस्थ स्वरूप से जीवात्मा में प्रकाशित कर देता है। फिर वह मनुष्य अपने मुख से उच्चारण करके दूसरों को सुनाता है।"

१३—ईश्वर की महिमा

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां,
एको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्य-योगाधिगम्यं,
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१३॥

शब्दार्थ—जो (नित्यानाम् नित्यः) नित्य पदार्थों में भी अधिक नित्य है, (चेतनानाम् चेतनः) चेतनों का भी चेतन है, (बहूनाम्-एकः) बहुत में एक [ही सर्वोपरि] है, (यः) जो (कामान् विदधाति) कामनाओं को पूर्ण करता है, (तत् कारणम्) वह [जो तात्विक रूप में सृष्टि का निमित्त] कारण है, (सांख्य-योग-अधिगम्यम्) सांख्य=ज्ञानयोग के द्वारा अथवा योग=निष्काम-कर्म-योग के द्वारा जिसको प्राप्त किया जा सकता है, [उस] (देवम्) ज्योतिःस्वरूप

ईश्वर को (ज्ञात्वा) जानकर [उपासक] (सर्वपाशैः मुच्यते) सब पाशों से छूट जाता है।

१४—ज्योतिः स्वरूप

न तत्र सूर्यो भाति, न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्तिकुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१४॥

शब्दार्थ—(तत्र) वहां=ईश्वर के स्वरूप के सामने (सूर्यः न भाति) सूर्य नहीं चमकता, (चन्द्र-तारकम् न) चन्द्रमा और तारे नहीं चमकते, (इमा विद्युतः न) ये बिजुलियां नहीं चमकतीं, (अयम् अग्निः कुतः) यह अग्नि वहां कैसे चमक सकता है? (इदम् सर्वम्) यह सब (तस्य भासा विभाति) उसकी चमक से ही चमकता है।

१५—एक हंस

एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये,
स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति,
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१५॥

शब्दार्थ—[यह अखिल विश्व मानो एक बहुत बड़े जलाशय के समान है।] (भुवनस्य मध्ये) इस विश्व के बीच में (एकः हंस) एक हंस है। (सः एव अग्निः) वह ही अग्नि है, [जीवन, ज्योति, जागृति-प्रद और प्रकाशी

होकर भी वह सलिले (संनिविष्टः) जल में निवास करता है। (तम् विदित्वा एव) उसको जानकर ही [उपासक-समुदाय] (मृत्युम्-अति-एति) मृत्यु को लांघ जाता है=जीतलेता है। (अथनाय अन्यः पन्था न विद्यते) छुटकारे के लिये=संतरण के लिये कोई और मार्ग नहीं है।

१६–स्थिति, बन्ध और मोक्ष का विधाता

स विश्वकृद्विश्वविदात्म योनिः,
ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः।
प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः,
संसार मोक्ष स्थिति बन्धहेतुः ॥१६॥

शब्दार्थ—(सः) वह (विश्वकृत्) विश्व का विधाता है, (विश्ववित्) विश्व में व्यापक और विश्व का ज्ञाता है, (आत्म-योनिः स्वयम्भू है, उसका निर्माता या उपादान कारण कोई नहीं है। (ज्ञः) वह ज्ञानी है, ज्ञानस्वरूप है, जानने योग्य है। (कालकारः) [यद्यपि काल एक नित्य, अखण्ड और निराकार तत्त्व है, तथापि काल को व्याव-हारिक रूप तो उसके कर्तृव्य=उसके सृष्टि-रचना-कौशल से ही मिलता है, अतः] वह विद्याओं का ज्ञाता है। वही (प्रधान) प्रकृति और (क्षेत्रज्ञ) जीवात्मा-समुदाय का (पतिः) स्वामी है; (गुणेशः) वही सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण [इन तीनों गुणों और इनकी साम्यावस्था प्रकृति] का प्रशासक है, (संसार-मोक्ष-स्थिति-बन्ध-हेतुः) संसार की मुक्ति, स्थिति और प्रलय तथा जीवों के कर्मानुसार बन्ध और मोक्ष का विधाता भी वही है।

१७—संस्थान-संचालक

स तन्मयो हि-अमृत ईश संस्थो,
ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता।
य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव,
नान्यो हेतुर्विद्यते ईशनाय ॥१७॥

शब्दार्थ—(सः) वह (तत्-मयः) तन्मय है। [जैसा चाहिये वैसा ही वह है, अपने सम्पूर्ण नित्य गुण, कर्म और स्वभाव-समूह सहित परम सत्तावान् है।] (हि) निस्सन्देह वह (अमृतः) अमृत है, (ईश-संस्थः) सृष्टि का प्रशासक है, प्रशासन का ज्ञान और अधिकार उसे है, (ज्ञः) ज्ञानी है, ज्ञानस्वरूप है, जानने योग्य है, (सर्वगः) सर्व-व्यापक है, सर्वज्ञ है, (अस्य भुवनस्य गोप्ता) इस संसार का संरक्षक वही है (यः) जो (अस्य जगतः) इस गति-प्रगति-शील जगत् को (नित्यम्-एव-ईशे) सदा ही प्रशासित करता है। (ईशनाय) इस संसार के सुप्रबन्ध के लिये (अन्यः हेतुः) कोई अन्यकारण (न विद्यते) नहीं है।

विशेष—यह संसार ही उसकी सत्ता और महत्ता का प्रमाण है।

१८—मुमुक्षु का आत्म-निवेदन

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं,
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धि प्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥१८॥

शब्दार्थं—(यः) जो (पूर्वम्) पहले (ब्रह्माणम्) वेदज्ञ को (विदधाति) उपजाता है, (यः वै) और जो (वेदान्-प्रहिणोति) वेदों को प्रकाशित करता है, उसके प्रति [मेरा यह निवेदन है कि] (ह) निस्सन्देह (तम्) उस (आत्म-बुद्धि-प्रकाशम्) उस आत्मा का कल्याण और प्रज्ञा का प्रकाश करने वाले (देवम्) दिव्य, दाता और ज्योति-स्वरूप देव की (शरणम्-अहम्) शरण को मैं (प्रपद्ये) प्राप्त करता हूं ।(वै) क्योंकि [मैं] (मुमुक्षुः) एक मुमुक्षु हूं ।

विशेष—महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने भी आत्म-समर्पणविधिः का उल्लेख वैदिक-सन्ध्या-पद्धति में किया है। यथा—

हे ईश्वर ! दयानिधे ! ! भवत् कृपयाऽनेन जपोपासनादि कर्मणा धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः ।

अर्थ—हे ईश्वर ! दया के सागर ! ! आपकी कृपा से इस जप और उपासना आदि कर्म के द्वारा हम को शीघ्र ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति हो ।

इस समर्पण-विधि का अनुष्ठान सभी उपासकों का पूर्ण श्रद्धा, स्निग्धता और सावधानता से करना चाहिये ।

१६—मेरा आराध्य-देव

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं
निरवद्यं निरंजनम् ।
अमृतस्य परं सेतुं,
दग्धेन्धनमिवानलम् ॥१६॥



शब्दार्थ—[वह मेरा आराध्य देव, मैं जिसकी शरण ग्रहण करता हूं] (निष्कलम्) निरवयव है, (निष्क्रियम्) अचल है। (शान्तम्) शान्त है। (निरवद्यम्) दोषरहित है। (निरंजनम्) निर्लेप है, [अमृतस्य-परम्-सेतुम्) अमर-जीवन=मोक्ष-प्राप्ति के लिये महान् सेतु=पुल के समान है या (इव) जैसे कि (दग्ध-इन्धनम्-अनिलम्) बिना धुएं का प्रचण्ड अग्नि होता है, वह वैसा ही ज्योतिर्मय है।

अचल, शान्त अवयव-रहित, वन्द्य, अदोष, अकाम।
ज्योतिर्मय, जगदीश्वर, है अमृत का धाम॥
उसकी कृपा से हुए बहुजन भव-जल पार।
परम—सेतु सम है मेरा, दीनबन्धु कर्तार॥

२०—ईश्वर-दर्शन आवश्यक है !

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तं भविष्यति॥२०॥

शब्दार्थ—(यदा) जब (मानवाः) लोग (आकाशम्) आकाश को (चर्मवत्) चमड़े की भांति, अथवा चमड़े में (वेष्टयिष्यन्ति) लपेट लेंगे, (तदा) तब (देवम्-अविज्ञाय) ईश्वर को बिना जाने भी (दुःखस्य अन्तम्-भविष्यति) दुःख का अन्त हो जायेगा।

विशेष—जैसे अनन्त आकाश को चमड़े की तरह से लपेटा नहीं जा सकता, और चमड़े से ढांपा नहीं जा सकता, वैसे ही ईश्वर-बोध के बिना दुःखों का अन्त भी नहीं हो सकता।

२१—उपनिषद्‌कार

तपः प्रभावाद् देवप्रसादाच्च ब्रह्म
ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान् ।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं,
प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम् ॥२१॥

शब्दार्थ—(तपः प्रभावात्) अपने तप के प्रभाव से (च) तथा (देव प्रसादात्) ईश्वर की कृपा से यह (ब्रह्म) ब्रह्म विषयक (परमम्-पवित्रम्) अत्यन्त पवित्र उपदेश (अथ) सर्वप्रथम (विद्वान् श्वेताश्वरतरः ह) महर्षि श्वेताश्वतर जी ने ही (ऋषि-संघ-जुष्टम्) ऋषियों के संघ में उपस्थित (अति-आश्रमिभ्यः) ज्ञानियों, वैरागियों और संन्यासियों के लिये (सम्यक् प्रोवाच) उत्तम रीति से दिया था। [तभी से यह संसार में प्रसिद्ध है और निरन्तर ही जन-जन का कल्याण करता हुआ चला आ रहा है।]

विशेष—श्वेताश्वतर शाखा और सम्प्रदाय का विस्तृत उल्लेख इस टीका की भूमिका में द्रष्टव्य है।

२२—इस उपनिषद् के अधिकारी

वेदान्ते परमं गुह्यं, पुराकल्पे प्रचोदितम्
नाप्रशान्ताय दातव्यं, नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः ॥२२

शब्दार्थ—(परमम्-गुह्यम्) अत्यन्त रहस्यमय यह उपदेश जोकि (पुराकल्पे पूर्वकल्प में, प्राचीन काल में (वेदान्ते) वेद के अन्त में, वेद के सार रूप में (प्रचोदितम्)

सुप्रकाशित और सुप्रेरित हुआ था, (अप्रशान्ताये न दातव्यम्) किसी अशान्त व्यक्ति को नहीं देना चाहिये। (पुनः) इसी प्रकार (अपुत्राय न) जो पुत्रहीन हो, अपना पुत्र न हो अथवा कुपुत्र हो, उसे भी यह उपदेश न देना चाहिये, (वा) तथा (अशिष्याय न) अशिष्य को भी नहीं देना चाहिये।

विशेष—यह उपदेश अनधिकारी को देना उचित नहीं है। अशान्त को शान्त बनाकर, अनधिकारी को अधिकारी बनाकर, पुत्र-हीन को पुत्रवान् बनाकर, कुपुत्र को सुपुत्र बना कर, अशिष्य को शिष्य बनाकर ही यह उपदेश देना चाहिये, प्रत्येक पिता को उचित है कि अपने पुत्र को सुपुत्र बनाकर यह उपदेश दे दे। प्रत्येक गुरु को उचित है कि अशिष्य को शिष्य बनाकर, उसे यह उपदेश दे दे, जिससे कि यह उपदेश सदा-सदा तक अखिल मानवता का कल्याण करता रहे।

शिक्षा वा को दीजिये, जाको शील-सुभाय।
पाहन में क्या मारिये, चोखा तीर नसाय॥

एवमेव—

सीख ताहि को दीजिये, जाको सीख सुहाय।
सीख न दीजे बनरा, बइये का घर जाये॥

निरन्तर अभ्यास और प्रयत्न करने से तो बड़ी-बड़ी कठिनाइयां भी सरल हो जाती हैं—

करत-करत अभ्यास के, जड़-मति होत सुजान।
रसरी आवत-जात ते, सिल पर परत निशान॥

२३—उपदेश की फल-श्रुति

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥
प्रकाशन्ते महात्मनः ॥२३॥

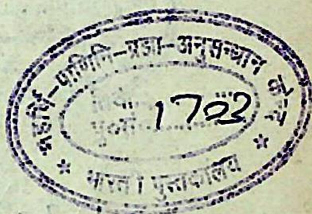
शब्दार्थ—(यस्य) जिसकी (देवे) ईश्वर में (पराभक्ति) अत्यन्त भक्ति=परम-प्रेम-भावना है और (यथादेवे) जैसा ईश्वर में (तथा गुरौ) वैसी ही गुरु में भी अत्यन्त-भक्ति=परम-प्रेम-भावना है (तस्य महात्मनः) उस महात्मा के प्रति (कथिता हि) कथन किये गये ही (एते) ये उपदेश (अर्थाः) अपने यथार्थ अर्थों को (प्रकाशित करते हैं । (प्रकाशन्ते महात्मनः) ये उपदेश तो महान् आत्माओं के प्रति ही सुप्रकाशित होते हैं ।

शुद्ध, बुद्ध, शुभ कर्मरत यती, व्रती नर-नार ।
प्रतिपालें उपदेश यह, जिसका किया विचार ॥
शुचितर, शिवतर, श्वेततर, अश्वतरोपदेश ।
प्रतिपालन से मेटता, जन-जन के सब क्लेश ॥

शान्ति पाठ

ओ३म् सहनाववतु, सह नौ भुनक्तु ।
सहवीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु ।
मा विद्विषावहै ॥

ओ३म् शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः ॥





1703


ओ३म् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्व
र्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।
ओ३म्